प्रबंध-पद्म

संपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

(सुधा संपादक)

प्रबंध-पद्म

[चुने हुए साहित्यिक निबंध]

लेखक

पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

[अलका, अप्सरा, लिली, परिमल, उच्छृंखल,
महाभारत आदि पुस्तकों के रचयिता]

मिलने का पता—

भारती (भाषा) भवन

देहली

द्वितीयावृत्ति

सं० २०११ वि०

३)

प्रकाशक

श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

गंगा-ग्रंथागार—३६, गौतमबुद्ध मार्ग लखनऊ
इंडियन पब्लिशिंग हाउस—नई सड़क देहली
सुधा प्रकाशन, राजा बाजार, लखनऊ
राष्ट्रीय प्रकाशन मंडल, मछुआ टोली, पटना
तथा प्रचारक—सैकड़ों जगह

मुद्रक
कुमार फाइन आर्ट प्रेस
चाह रहट, दिल्ली

समर्पित

भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के पद को प्राप्त कर मेरे मनोराज्य के सत्य, शिव और सुंदर आचार्य श्रीमत् स्वामी सारदानंदजी महाराज की स्नेह-दृष्टि को सभक्ति 'प्रबंध-पद्म'।

कृपाकांक्ष—
सूर्यकांत

संपादकीय वक्तव्य

कविवर निरालाजी में सर्वतोमुखी प्रतिभा है। वह जैसे उच्च कोटि के कवि हैं, वैसे ही उच्च कोटि के उपन्यास-लेखक, कहानी-लेखक, गीतिकार, दार्शनिक, समालोचक और प्रबंध-लेखक भी। नाटक उन्होंने अभी तक कोई नहीं लिखा। किंतु, मेरा विश्वास है, जो 'ऊषा'-नाटिका वह लिखने जा रहे हैं, वह सुंदर वस्तु होगी।

निरालाजी अनेक भाषाओं के विद्वान् हैं। संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला, हिंदी (खड़ी बोली, ब्रजभाषा तथा अवधी) में तो उनकी अच्छी गति है ही, अब उर्दू का भी वह अध्ययन कर रहे हैं। वह खड़ी बोली, ब्रजभाषा और अवधी में समान रूप से लिख सकते हैं, और तीनों भाषाओं में उन्होंने प्रशंसनीय काव्य का सृजन किया भी है। ब्रजभाषा में गोविंददास-पदावली नामक सुंदर बंगला-काव्य का जो सरस अनुवाद उन्होंने किया है, जो अभी छपा नहीं, वह हमारे इस कथन का प्रमाण है। उनमें वक्तृत्व-शक्ति भी है। खड़ी बोली, अवधी और बंगला में हमने उन्हें अधिकार के साथ बोलते हुए सुना है। अस्तु।

हमें तो निरालाजी के ये निबंध बहुत पसंद आए। आप में समालोचना-शक्ति बहुत अच्छी है। वह काव्य को समझते और उसकी तह तक पहुँचने की क्षमता रखते हैं। इस प्रबंध-पद्म के पराग से प्रेमी जन प्रसन्न होंगे, इस पूर्णाशा के साथ हम इसे साहित्य-संसार के सम्मुख समुपस्थित कर रहे हैं। इन प्रबंधों में 'राज्य और शक्ति', 'पंतजी और पल्लव', 'मुसलमान और हिंदू कवियों में विचार-साम्य'-शीर्षक प्रबंध तो स्थायी साहित्य में सुंदर स्थान

ग्रहण करने के सर्वथा अधिकारी हैं। यह संग्रह प्रथमा-मध्यमा और एफ्० ए०-बी० ए० में पढ़ाया जा सके, ज़रूरत से ज़्यादा बड़ा न हो जाय, इसलिये निरालाजी के और अच्छे निबंध हमने रोक लिये हैं। यदि हमारा यह उद्योग हिंदी-भाषा-भाषियों—विशेषकर शिक्षा-संस्थाओं—को पसंद आया, तो उन्हें हम दूसरे संग्रह में सजाकर सेवा में पेश करेंगे। तथास्तु।

कवि-कुटीर
२९ । ४ । ३४

दुलारेलाल भार्गव

निवेदन

मैंने अमित्र पद्यों के साथ प्रबंध लिखने का श्रीगणेश किया था। मेरे अधिकांश शिक्षित शुभेच्छु मित्रों को निबंध पसंद आये थे। उन्होंने साहित्य एवं दर्शन पर लेख-आलोचनाएँ आदि लिखते रहने के लिये मुझे प्रोत्साहन दिया था। 'समन्वय' के संपादक पूज्य-चरण स्वामी माधवानंदजी सरस्वती, आचार्यप्रवर पूज्यपाद पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी, महापंडित (स्वर्गीय) स्वामी प्रज्ञानंदजी सरस्वती, विद्वद्वर आचार्य पंडित सकलनारायणजी शर्मा आदि श्रद्धेयों द्वारा मुझे अनेकोपाय प्रोत्साहन मिलते रहे हैं। 'समन्वय' में 'एक दार्शनिक' के नाम के निबंधों को देखकर स्वामी माधवानंदजी महाराज ने मुझे प्रसिद्ध नाम से प्रकाश में आने की आज्ञा दी थी। मेरे सामयिक सहृदय अनेक मित्रों ने भी मुझे आँखों पर रक्खा, बढ़ावा दिया। मैं अंतःकरण से उनका कृतज्ञ हूँ। इस आकार में मेरे प्रबंधों की पृष्ठ-संख्या हजार से ऊपर होगी, पर ज्योतिश्चल सालाप छाया-चित्र नाटकों की तरह बाजार की चीज न होने के कारण वे मासिक और साप्ताहिक साहित्य के पृष्ठों में मुँह छिपाकर, अभ्यास प..घर जन-विष्णुओं के रक्षण से बाहर, दैत्यों की संज्ञा में, पड़े रहे। आज इ..ीलिए इतने संकुचित हैं।

इन प्रबंधों में ..-चार जगह जो भ्रम हो गये हैं, उन्हें पाठक क्षमा करें। ३६वें पृष्ठ में 'जौर' 'ज़ोर' हो गया है, ९६वें पृष्ठ में 'अज्ज' 'आर्य्य' छप गया है। ६८वें पृष्ठ पर 'कंथा'-शब्द मेरे ज्ञात भाव से पुंलिंग में आया है। संस्कृत में यह स्त्रीलिंग है। पर हिंदी में बहुत-

से आकारांत शब्द पुंलिंग में ही प्रचलित हैं—बच्चे पाठशाले पढ़ने जाते हैं, लोग धर्मशाले में ठहरते हैं, उन्हें मोहन-माला अच्छा लगता है। आज हिंदी में लोग शाला-माला का स्त्रीलिंग में प्रयोग करते हैं। मैं उनका विरोध नहीं करता, केवल यह निवेदन करता हूँ कि हिंदी की पूर्व विशेषता के कारण मैंने कंथा को पुंलिंग में लिखा। १४६वें पृष्ठ पर विद्यापति का एक पद मैंने बँगला के अनुसार रक्खा है, क्योंकि उन्हें मैंने बँगला में ही पढ़ा था।

क्षमार्थी—

'निराला'

निबंध-सूची

शून्य और शक्ति

बिंदु या शून्य सब शास्त्रों में, सब तरफ़, सब समय, स्वयंसिद्ध है। उद्भव, स्थिति और प्रलय का शून्य ही मूल-रहस्य है। केवल शक्ति संसार को शून्य से अलग किए हुए है, दूसरे तरीक़े से, शून्य की ही व्याख्या करने में सदैव तत्पर। लोग गणित या गणना में पड़कर हिसाब जोड़ते, संख्या ठीक करते, उसकी वृद्धि में लगे हुए शून्य को नफ़रत की निगाह से देखते हैं, पर अगल-बगल से शून्यों से दबी हुई उनकी संख्या आप वृहत् ज्ञान के मुक़ाबले असिद्ध रह जाती है। गणित की संख्या की तरह संसार के जीव और तमाम भावनाएँ दोनो तरफ़ से शून्यों से दबे हुए हैं।

संख्या का उद्गम-स्थल है शून्य ०। इस शून्य की दाहनी तरफ़ अगणित प्रसार तक संख्या बढ़ती है, और बाईं तरफ़ अगणित प्रसार तक घटती है (दशमिक द्वारा)। सौ, हज़ार, लाख, करोड़ आदि के किसी कोठे में रह जाना गणित का मूल-तत्त्व हासिल कर लेना न हुआ, जब कि संख्या और बढ़ सकती है; यही बात घटाव के संबंध में भी; पुनः संख्या द्वारा दोनो तरफ़ के घटाव-बढ़ाव के दो अगणित दो शून्य ही हुए। फिर तीन शून्यों का समधर्म में एक शून्य रह जाना बिलकुल स्वाभाविक है। अतः शून्य ही तमाम गणित का मूल आधार हुआ। रेखागणित में भी बिंदु सब कुछ है। बिंदु छीन लें, तो रेखाएँ, कोण आदि असिद्ध रह जायँ। यही बीजगणित का हाल है। बीज स्वयं गोलाकृति शून्य है। उसकी जगह 'क' कीजिए या 'च', एक ही बात है।

अब संसार की भावनाएँ लीजिए। भावनाएँ शब्द-रचना

द्वारा, एक- क विशिष्ट अर्थ तथा चित्र द्वारा परिस्फुट होती हैं। अर्थ शब्दों द्वारा, शब्द वर्णों द्वारा। ॐ सब वर्णों का सम्मिलित दृश्य रूप है। इसकी समाप्ति ऊपर के शून्य या बिंदु में होती है। फिर केवल शून्य रह जाता है। शून्य ही तमाम शब्द-विद्या का केंद्र-स्थल है, इसलिये संसार की व्यक्त-अव्यक्त सभी भावनाएँ शून्य में पर्यवसित हुईं।

आज पश्चिम के ज्ञानिक विकास से पृथ्वी चमत्कृत है। वहाँ के विद्वान् कहते हैं, हम तरक्क़ी कर रहे हैं। यानी सभ्यता में संसरण जारी है। परंतु वे नहीं जानते, विज्ञान के उद्भव का शून्य जब अंत के शून्य को आविष्कृत कर लेगा, यद्यपि यह आविष्कार आविष्कारक-मन की मृत्यु है, अतएव क्रिया-रहित, तब बीच की कुल आविष्कार-प्रगतियाँ, एक युग की जोती-बोई हुई ज़मीन के पड़ती पड़ जाने की तरह, शून्य-फल रह जायँगी, निर्वात-वक्ष: सर की तरंगों की तरह अचपल शांति में लीन। ऐसा ही हुआ है; ऐसा ही होगा। फिर किसी अगले युग में पुनः-पुनः उसी शून्य-समाप्ति से आविष्कार होते रहेंगे—प्रकंपित मन की अलग-अलग सूरतें जड़ यंत्रों में परिणत होती रहेंगी। वहाँ के विज्ञानाचार्यों का जो यह प्रश्न है कि शक्ति का नियामक कौन है, जिसका बाहर ही वे उत्तर निकाल लेना चाहते हैं, आप द्रष्टा की तरह बिलकुल अलग रहकर—इसके लिये हम कहेंगे, जिस तरह यंत्र का आविष्कार बाहर से पहले भीतर होता है, उसी तरह यह नियामक भी भीतर ही प्राप्त होगा। जिस 'हम' ने यह सब आविष्कार किया, शक्ति का नियामक भी वही है। पाँच सौ बत्तिय की रोशनी और हज़ार बत्तियों की रोशनी आप नहीं पैदा हुई, यह शक्ति का भेद उसी 'हम' का किया हुआ है, जिसने ये बत्तियाँ बनाईं, और जिनसे शक्तियों में घटाव-बढ़ाव होता है—बाह्य रूप से, वे उस शक्ति-भेद के उपकरण हैं। यंत्रों से और जो कुछ भी निकलता हो,

यंत्रकार का 'हम' नहीं निकल सकता। यंत्रकार के जिस 'हम' में तैयार करने की शक्ति है, उसके उसी 'हम' की भौतिक शक्ति यंत्र-शक्ति में काम कर रही है, क्योंकि 'हम' के पंचतत्त्वों से अलग कोई छठा तत्त्व यंत्र में नहीं लगा। इस 'हम' का आविष्कार और वैज्ञानिक प्रगतियों की नाड़ी बंद एक बात है। 'हम' मरे हुए मन में शून्य के सिवा कुछ नहीं; तब विज्ञान का आधार भी शून्य ही हुआ।

पृथ्वी शून्य, सूर्य शून्य, चंद्र शून्य, तारे शून्य, जल-कण शून्य, चिनगारी शून्य, हवा का आवर्त शून्य, अणु-परमाणु शून्य, स्वेद-अंड-पिंड शून्य, प्रकृति का प्रत्येक बीज शून्य।

इस शून्य के आधार पर सृष्टि अपनी 'सृज' में ही बाँकपन या कला पैदा कर रही है, इसीलिये सृष्टि सब रूपों में टेढ़ी है। ग, वर्ष, अयन, ऋतु, मास, दिन भिन्न-भिन्न अपना-अपना विशिष्ट सौंदर्य रखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की तिर्यक् दशा। यही कला और सौंदर्य है। जन्म और मृत्यु, उठना और गिरना, भला और बुरा सब जगह। बीच का यह अगणित भी अगणित कलाओं में परिपूर्ण हो रहा है। असंख्य भुज असंख्य वृत्तियों के रंग में असंख्य चित्र तैयार कर रहे हैं। यहाँ विश्व-साहित्य की सार्वभौम पूर्णता है।

विकास के देखने या करने के अस्तित्व में शक्ति का ही अस्तित्व है। शास्त्रानुसार शून्य और शक्ति अभेद हैं। फ़र्क़ इतना ही है कि जब शून्य में स्थिति है, तब शक्ति का ज्ञान नहीं, क्योंकि 'वह नहीं काँपता' सिद्ध है, और जब शक्ति का परिचय है, तब शून्य का ज्ञान नहीं, 'क्योंकि वह काँपता है' सिद्ध है।

कार्यकरी शक्ति किसी असंपूर्ण को पूर्ण करने के लिये होती है। दैनिक जीवन में भी हम यही तात्पर्य देखते हैं। ऐसा ही हाल एक बड़ी व्याप्ति का है। एक ही मनुष्य घर के भी कार्य करता है और देश तथा संसार के भी। यहाँ एक छोटी-सी सीमा में मनुष्य

की अणिमा और महिमा, गरिमा और लघिमा, सभी शक्तियों को अवकाश मिलता है, और वे अपना-अपना कार्य करती रहती हैं। परंतु हैं वे अभेद। सिर्फ़ व्यक्ति-भेद की तरह उनके भी भेद हैं।

जिस तरह यह एक ही शक्ति व्यक्ति, देश तथा विश्व की शक्ति में सम्मिलित हो सकती है, उसी तरह उसके कार्य भी अलग-अलग संकुचित, प्रसरित, रूप, गुण, तथा भाव पैदा करते हैं। हमारे साहित्य में इस शक्ति का व्यापक कार्य अभी नहीं के बराबर है। हमारा मतलब हमारे नवीन साहित्य से है। इस शिथिलता के भी कारण हैं। जो बलात् साहित्यिकों को अनेक भावनाओं से संकुचित कर देते हैं। पर शिथिलता से लड़ना ही सभ्य होना है।

यही शक्ति के विकास का एक रूप है, युग-धर्म। यह सदा युग के साथ संबद्ध रहा है। अनेक पुरानी बातें, पुरानी आदतें, पुरानी राहें, पुराने विचार युग-धर्म के तक़ाज़े पर अपना रूप परिवर्तित करना चाहते हैं। साहित्य यही काम करता हुआ अपनी शक्ति के परिचय से जीवित कहा जाता है, अन्यथा मृत या पश्चात्पद। विश्वभावना न भी हो, यदि जातीय भावना को ही श्रेय दिया जाय, तो भी किसी व्यक्ति के लिये अपने ही समाज के दायरे में रहने की गुंजायश नहीं रहती। इससे उस व्यक्ति का साहित्य देश-व्यापी प्रसार प्राप्त नहीं कर सकता। पुरानी प्रचलित सभी बातें एक वक्त नई और सुख-प्रद थीं, पर आज भी यदि उन्हीं की रक्षा के लिये सर पीटा गया, तो साहित्य में 'सृज' को स्थान नहीं मिल सकता और वह साहित्य-जीवन मृत है।

हम एक उदाहरण मूर्ति-पूजन का लेंगे। मूर्ति-पूजन के भीतर से हम भी वेदांत-सत्य साबित कर सकते हैं, औरों ने भी लिखा है, और मूर्ति-पूजन में वही है भी माननीय। यहाँ कहेंगे, वेदांत-सत्य पर आक्षेप किसी ने नहीं किया—हमारा मतलब शास्त्र से है, पर 'मूर्तिपूजाऽधमा-

ऽधमा' यहीं की संस्कृति है। मूर्ति-पूजन और पुराण-प्रेम यदि यहाँ के धर्मात्माओं से ले लिया जाय, तो धर्म की कुल पूँजी गायब हो जाती है। और, इतनी ही बची हुई हिंदू-सभ्यता, धर्म-भाव, समाज-संस्कृति संसार के बड़े-बड़े भावों का मुक़ाबला करती हुई अपना अस्तित्व साहित्य में अमर कर रक्खेगी, जहाँ बड़े-बड़े विद्वान् कहलानेवालों को शृंगवेरपुर और अहल्या के स्थान-निर्णय से अभी फ़ुर्सत नहीं मिली!

आज का जड़-विज्ञान वर्तमान मूर्ति-पूजा के ज्ञान से कितना आगे बढ़ा हुआ है, इसके साबित करने की आवश्यकता नहीं। मूर्तियों की पूजा कर प्रसाद-स्वरूप एक भाई के सिर पर दोहत्था लट्ठ धमकनेवाले मूर्ति-पूजन का कितना बड़ा तत्त्व जानते हैं, यह तो यहाँ रोज़ साबित हुआ करता है। दस पैसे के स्वार्थ में अशक्त एक सजीव मूर्ति की जान लेने के लिये तैयार धनीमूर्ति-पूजकजी अपनी उस प्रकार की स्थिति में डटे हुए विश्व को हिला देंगे, ऐसे प्रसंग अपनी चौपाल की चारपाई पर ही लोग छेड़ा करें। बाहर हम लोगों को कुछ लज्जा लगती है। पुरुषों और स्त्रियों में देव और देवियाँ नहीं, पत्थरों में हैं। तैंतिस करोड़ देवताओं के देश में रहनेवाले विद्वज्जन कुछ विचार कर लिखा करें। देवियाँ बनाई गईं, या वे पहले ही से देवियाँ हैं सजीव।

ज्ञान तथा व्यवहार (ज्ञान-जन्य कर्म) का अहाता जितना बड़ा होगा, व्यक्ति या जाति भी उतनी ही बड़ी होगी। मुसलमान लोग धर्म का बहुत बड़ा व्यावहारिक ज्ञान लेकर जीत सके थे, और शताब्दियों तक भारत की भेड़ें चराईं। मुसलमानों की तरह पश्चिम के लोग भी ज्ञान तथा कर्म, दोनों में प्रसरित हैं। हमें इस जड़-विज्ञान का अपने विस्तार से सामना करना है। ऐसे साहित्य की सृष्टि ही हमारा युग-धर्म है। वे तारों तथा बेतार के तार से काव्य-साहित्य-व्यवसाय आदि के द्वारा तमाम पृथ्वी को बाँधे हुए हैं, कोई भी देश,

कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं, जिसका प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध उनसे न हो। उनका अशरीर-शक्ति-प्रवाह एक देश से दूसरे देशों को अविराम बहता जा रहा है, भले उसका उद्देश्य मंद या निंद्य हो, पर हमारे ठाकुरजी तो मंदिर के अहाते से बाहर भी नहीं निकल पाते, न हमारे ज्ञान से और न अपने कर्मों द्वारा। फिर हमारे पास वह कौन-सी सूरत है, जिसे देखकर हम उससे सहयोग या प्रतियोग करें? चौके के अंदर क़ैद रहकर प्रतिरोध तो काफ़ी कर चुके। पर अशरीर वह तो छूकर ही बह रहा है। मन में सब तरह से समाया हुआ है।

इसीलिये हम समाज तथा साहित्य में अपनी बहुत दिनों की भूली हुई उस शक्ति को आमंत्रित करना चाहते हैं, जो अव्यक्त रूप से सबमें व्यक्त, अपनी ही आँखों से विश्व को देखती हुई अपने ही भीतर उसे डाले हुए है; पानी की तरह सहस्रों ज्ञान-धाराओं में बहती हुई, स्वतंत्र; किरणों की तरह सब पर पड़ती हुई मधुर, उज्ज्वल, अम्लान, मृत्यु की तरह नवीन जन्मदात्री, सर्वशाखाओं की तरह अगणित प्रसार से फैली हुई, प्रत्येक मूर्ति में चिरकमनीय।

साहित्य और भाषा

भाषा-क्लिष्टता से संबंध रखने वाले प्रश्न हिंदी की तरह अपर भाषाओं में नहीं उठते। हिंदी को राष्ट्र-भाषा माननेवाले या बनानेवाले लोग साल में तेरह बार आर्त चीत्कार करते हैं—भाषा सरल होनी चाहिए, जिससे आबाल-वृद्ध समझ सकें। मैंने आज तक किसी को यह कहते हुए नहीं सुना कि शिक्षा की भूमि विस्तृत होनी चाहिए, जिससे अनेक शब्दों का लोगों को ज्ञान हो, जनता क्रमशः ऊँचे सोपान पर चढ़े।

हिंदी की सरलता के संबंध में बकवास करनेवाले लोगों में अधिकांश को मैंने देखा—लिखते बहुत हैं, जानते बहुत थोड़ा हैं। कम-से-कम हिंदी से तो उनका तअल्लुक़ स्कूल से जब से छूटा, छूटा ही रहा। फिर हिंदी की विशेष शिक्षा प्राप्त करने की उन्हें जरूरत नहीं मालूम दी। जरूरत रही दूसरों को सिखलाने की। साधारण जनों का पक्ष लेकर वे बराबर अपने अज्ञान पर मिट्टी डालते रहे।

एक सवाल राष्ट्र-भाषा द्वारा हिंदू-मुस्लिम ऐक्य का उठता है। इसके लिये भी हिंदी को भरसक असंस्कृत करने की ज़रूरत बतलाई जाती है, जैसे मुसलमानों में राष्ट्र-भाषा का सिक्का जम गया हो, और वे क्रमशः हिंदी-साहित्य के उदार उदर में प्रवेश कर रहे हों। हिंदोस्तानी एकेडमी के पदवीधर पदाधिकारियों की ऐसी ही राय है। वे लोग स्वयं कुछ हिंदी जानते हैं या नहीं, यह मत पूछिए, इनकी जाँच व्यर्थ है। उनकी राय सुन लीजिए। ऐसी भावना से प्रेरित हो कुछ कवियों ने क़लम के कुल्हाड़े से राष्ट्र-भाषा की लकड़ी से काव्य के कुछ चैले चीरे भी हैं, जिनके मुक़ाबले 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठति अग्रे' बहुत सरस है।

कुछ हो, राष्ट्र-भाषा का वह काव्य सरल तो है, लोग आसानी से समझ तो लेते हैं।

यथार्थ साहित्य नेताओं के दिमाग़ के नपे-तुले विचारों की तरह, आय-व्यय की संख्या की तरह प्रकोष्ठों में बंद होकर नहीं निकलता। वह किसी उद्देश को पुष्टि के लिये नहीं आता, वह स्वयं सृष्टि है। इसीलिये उसका फैलाव इतना है, जो किसी सीमा में नहीं आता। ऐसे ही साहित्य से राष्ट्र का यथार्थ कल्याण हुआ है। जब कुछ ख़ास आदमियों के कल्याण की बात सोची जायगी, तब कुछ ख़ास आदमियों का अकल्याण भी साथ-साथ होगा। यह अनुल्लंघ्य दर्शन है। इसीलिये बृहत् साहित्य यानी ऊँचे भावों से भरा हुआ साहित्य कभी देश, काल या संख्या में नहीं रहा; और उसी से देश; काल और संख्या का अब तक यथार्थ कल्याण हुआ है। उन प्राचीन बड़े-बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही। सोलह आने में चार आने जनता के लायक़ रहना साहित्य का ही स्वभाव है। क्योंकि सब तरह की अभिव्यक्तियाँ साहित्य में होती हैं। तुलसी-कृत रामायण का हमारे यहाँ सब पुस्तकों से ज्यादा प्रचार है, दूसरी किताब समाप्त होने से पहले ही लड़कियाँ सुंदरकांड खोलकर "जामवंत के वचन सुहाए, सुनि हनुमान-हृदय अति भाए।" पढ़ने लगती हैं। इसके मानी यह नहीं कि तुलसीदासजी ने बड़ी सीधी भाषा में रामायण या अपने दूसरे ग्रंथ लिखे हैं। रामायण कहीं-कहीं, जहाँ जैसे कठिन भाव आए हैं, इतनी मुश्किल है कि अच्छे-अच्छे विद्वानों के छक्के छूट जाते हैं। इसके अलावा साद्यंत रामायण सालंकार है। यह सब साधारण लोग समझ सकते हैं, यह किसी साहित्यिक नेता के सिवा यथार्थ अनुभवी विद्वान् कभी न कहेगा। रामायण के प्रचार का कारण रामचरित है, जिसका हज़ारों वर्ष पहले से अनेकानेक रामायणों तथा कथाओं द्वारा प्रचार होता आया है। संस्कार यहाँ के

लोगों के ऐसे ही बन गए हैं। क्लिष्टता के बारे में यही हाल सूरदासजी की कविता का भी है। वे भी कम मुश्किल नहीं। अलंकारों के सिवा एक क़दम नहीं उठाते।—

"अद्भुत एक अनूपम बाग।
युगल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग।"

यह सब साधारण जनों की समझ में आने लायक़ काव्य नहीं। कबीर तो अपनी विशेषता में और मुश्किल हैं। पंडित न होते हुए भी अलंकार लिखते हैं। केशव अपनी क्लिष्टता के लिये काफ़ी बदनाम हैं। ये चार हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। बिहारी की ठेठ देहाती बग़ैर टीका देखे मैं अब भी नहीं समझ पाता। उर्दू के गालिब मुश्किल लिखने के लिये काफ़ी बदनाम थे। पर वही उसके सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। शेक्सपियर के गीतों के भाव गहन, भाषा तदनुकूल है। शेली की भाषा और भी लच्छेदार। रवींद्रनाथ भी इसके लिये कम बदनाम नहीं थे। वह मुश्किल-आसान दोनों तरह की भाषा लिखते हैं, पर भाव साधारण जन नहीं समझ सकते। एक बार 'चरका' प्रबंध में उन्होंने महात्माजी पर जो 'आक्षेप किया था, उसकी दिल्लगी तथा पेचीदे भाव पर महात्माजी ने अपने लोगों को समेटकर समझाया था कि तुम लोग उसका अर्थ कुछ-का-कुछ समझ लोगे। अर्थात् महात्माजी के लोग इतने पुष्ट विचारों के हैं! फिर नेतृत्व का एक संस्कार भी होता है, जो चेतन को जड़ और समझदार को मूर्ख मानता है।

अस्तु। बड़े-बड़े साहित्यिकों ने प्रकृति के अनुकूल ही भाषा लिखी है। कठिन भावों को व्यक्त करने में प्रायः भाषा भी कठिन हो गई है। जो मनुष्य जितना गहरा है, वह भाव तथा भाषा की उतनी ही गंभीरता तक पैठ सकता है, और पैठता है। साहित्य में भावों की उच्चता का ही विचार रखना चाहिए। भाषा भावों की अनुगामिनी है।

जनता को तरह-तरह की अहितकर अनुकूल सीख न देकर कुछ परिश्रम करने के लिये ही कहना ठीक होगा। जिनको संधि-समास का भी ज्ञान नहीं, ऊँचे साहित्य की सृष्टि उनके लिये नहीं, न "Words in one syllable" असमस्त शब्दों की किताबें लिखने से राष्ट्र-भाषा का उद्धार हुआ जाता है।

जो लोग समय को देखते हुए अपनी पुस्तकों या पत्रों के प्रचार के लिये उनमें साधारण भाषा और सरल भावों के रखने का प्रयत्न करते हैं, वे ऐसा व्यवसाय की दृष्टि से करते हैं। यह हिंदी का हित न हुआ। हित तो गहन शिक्षा द्वारा ही होगा।

हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के लिये ललित शब्दावली की टाँग तोड़कर लँगड़ी कर देने से लड़खड़ाती हुई भाषा अपनी प्रगति में पीछे ही रहेगी। हमारा यह अभिप्राय भी नहीं कि भाषा मुश्किल लिखी जाय; नहीं, उसका प्रवाह भावों के अनुकूल ही रहना चाहिए। आप निकली हुई और गढ़ी हुई भाषा छिपती नहीं। भावानुसारिणी कुछ मुश्किल होने पर भी भाषा समझ में आ जाती है। उसके लिये कोष देखने की जरूरत नहीं होती। जिस तरह हिंदी के लिये कहा जाता है कि वह अधिकसंख्यक लोगों की भाषा है, उसी तरह यदि अधिक संख्या उसकी योग्यता को भी मिलेगी, तो योग्यतम की विजय में फिर कोई असंभाव्यता न रह जायगी। इसके लिये भी भाषा-साहित्य में अधिकाधिक प्रसार की आवश्यकता है। जो लोग साधारण भाषा के प्रेमी हैं, उनके लिये साधारण पुस्तकें रहेंगी ही। पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पुस्तकों की तरह भाषा-साहित्य का भी स्तर तैयार रहेगा।

प्रायः यह शिकायत होती है कि छायावादी कविताएँ समझ में नहीं आतीं; उनके लिखनेवाले भी नहीं समझते, न समझा पाते हैं। इस तरह के आक्षेप हिंदी के उत्तरदायी लेखक तथा संपादकगण किया करते हैं। कमजोरी यहीं पर है। हिंदी में बहुत-से लोग ऐसे भी हैं, जो छायावादी

कविताएँ समझते हैं। उन्होंने समर्थन भी किया है। मैं अपनी तरफ़ से इतना ही कहूँगा कि छायावाद की कविताएँ भाषा-साहित्य के विकास के विचार से अधिक विकसित रूप हैं! जहाँ-जहाँ उन कविताओं में खूबी आगई है, वहाँ-वहाँ बहुत अच्छी तरह यह प्रमाण मिल जाता है। जिन स्थानों में धुँधलापन है, भावों का अच्छा प्रकाशन नहीं हुआ, चित्र चमकते हुए नहीं नजर आते, वहाँ सामयिक दुर्बलता है, जिससे आगे बढ़ने की साहित्य तथा साहित्यिकों को जरूरत है। जो लोग यह कहते हैं कि खड़ी बोली की कुछ प्राचीन काल की कृतियों की तुलना में आधुनिक कविताएँ (मेरा मतलब दोनो समय की अच्छी कविताओं से है) नहीं ठहरतीं, मैं उन्हें अत्युक्ति करते हुए समझता हूँ। मुझे दृढ़ विश्वास है, यह मेरी नहीं, उन्हीं की अल्पज्ञता है। वे साहित्य के साथ अन्याय करते हैं।

गैर लोगों को अपने में मिलाने का तरीक़ा भाषा को आसान करना नहीं, न मधुर करना, उसमें व्यापक भाव भरना और उसी के अनुसार चलना है। व्रज-भाषा भाषा-साहित्य के विचार से बड़ी मधुर भाषा है। उसके शब्द टूटते हुए इतने मुलायम हो गए हैं, जिससे अधिक कोमलता आ नहीं सकती। व्रज-भाषा का प्रभाव तमाम आर्यावर्त तथा दाक्षिणात्य तक रहा है। सभी प्रदेशों के लोग उसकी मधुरता के क़ायल थे। बँगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में उसकी छाप मिलती है। व्रज-भाषा-साहित्य के अंग के अपर प्रांतवाले लोग भी अपनी भाषा को व्रज-भाषा की तरह, उसी तूलिका से, मधुसिक्त कर देते हैं। यही साधना वर्तमान खड़ी बोली के लिये जरूरी है। पहले के अनेक मुसलमान-कवि व्रज-भाषा के रँग में रँग गए थे। उनके पद्य हिंदू-कवियों के पद्यों से अधिक मधुर हो रहे हैं। यही स्वाभाविक खिंचाव खड़ी बोली की कोमलता तथा व्यापकता में आना चाहिए। अच्छे को अधिकांश लोग अच्छा कहते हैं। यों तूल-तक़रारवाली बातें

तो हैं ही, और होती ही रहेंगी, प्रचार का इससे अच्छा उपाय आज तक संसार में दूसरा नहीं हुआ। जितने भी धर्म प्रचारित किए गए सब अपनी व्यापकता तथा सहृदयता के बल पर फैले। उनकी साधारण युक्तियाँ मृदुल, जल्द समझ में आनेवाली, आलोचनाएँ तथा अपर सभ्य अंग वैसे ही गहन, अगाध विद्वत्ता से भरे हुए। हिंदी के लिये एक तरह की आवाज उठाने से अच्छा अनेक तरह का प्रदर्शन है, क्योंकि इससे कुछ प्राप्त होता है।

मुसलमान और हिंदू-कवियों में विचार-साम्य

सभ्यता के आदि-काल से लेकर आज तक जितनी बड़ी-बड़ी बातें साहित्य के पृष्ठों में लिखी हुई मिलती हैं, उनके बाह्य रूपों में साम्य न रहने पर भी वे एक ही सत्य का प्रकाश देती हैं। आज तक मानवीय सभ्यता जहाँ कहीं एक दूसरी सभ्यता से टक्कर लेती आई है, वहाँ उसके बाह्य रूपों में ही वैषम्य रहा है, वेश-भूषणों, आचार-व्यवहारों तथा उच्चारण और भाषाओं का ही बहिरंग भेद रहा है। उन सभ्यताओं के विकसित रूप देखिए, तो एक ही सत्य की अटल अपार महिमा वहाँ मिलती है। थोड़ी देर के लिये, उदाहरणार्थ, हम मुसलमानों को ले सकते हैं। मुसलमानों से हिंदुओं की लड़ाई शताब्दियों तक होती रही। आज भी यदि भारतवर्ष के स्वतंत्र होने में कहीं किसी को कोई अड़चन मिलती है, तो वह हिंदू-मुसलमानों का वैषम्य ही कहा जाता है। जगह-जगह, मौके-बेमौक़े, आज भी दोनो एक दूसरे की जान ले लेने को तैयार हो जाते हैं। बहुत कम हिंदू और बहुत कम मुसलमान ऐसे होंगे, जो इनमें से एक दूसरे के उत्कर्ष का पूरा-पूरा पता रखते हों। मुसलमानों के आक्रमण के समय से लेकर आज तक दोनों जातियों में जो घृणा के भाव चले आ रहे हैं, वे दोनों जातियों की अस्थि-मज्जा में कुछ इस तरह से मिल गए हैं कि सुप्त रहते हुए भी वे जाग्रत् ही रहते हैं। हिंदू लोग, आचारों को प्रधानता देते हुए, खुदा-परस्त मुसलमानों को म्लेच्छ आदि नामों से विभूषित करते हैं। उसी तरह मुसलमान भी हिंदुओं को मूर्ति-पूजक देखकर उन्हें बुत-परस्त, काफ़िर आदि घृणा-सूचक शब्दों से याद करते हैं। सदियों से यह व्यवहार कुछ ऐसा चला आ रहा है कि दोनो के विचारों में जहाँ साम्य है, वहाँ तक पहुँचकर

दोनो में मैत्री-स्थापना की कोई चेष्टा ही नहीं की गई। जिन हिंदुओं को 'आचारः प्रथमो धर्मः' सिखलाया जाता है, और यह इसलिये कि आचारों से चित्त-शुद्धि होने पर ज्ञान या सत्य की प्रतिष्ठा मन में हो सकेगी, वे हिंदू आचारों में इस बुरी तरह बँध जाते हैं कि वे आचार ही उनकी आध्यात्मिक उन्नति के अंतिम लक्ष्य-से बने रहते हैं, यद्यपि अघोरान्नापरो मंत्रः' का वे प्रतिदिन पाठ किया करते हैं। इधर मुसलमानों को बुत ही से खुदा का पाठ मिला; पर वे बुत को घृणा ही करते गए, केवल काव्य में ही रह गया।

"परिस्तिश की याँ तक कि ऐ बुत तुझे—
नज़र में सभों की खुदा कर चले।"—

किंतु बुतों के प्रति ये भाव उनके नहीं रह गए, यद्यपि बुत-रूपी अपने बीवी-बच्चों को सभी मुसलमान प्यार करते हैं।

आज, अब, विज्ञान के युग में, जिस तरह पश्चिम की रोशनी से अपने गृह का अंधकार दूर करने के लिये राष्ट्रवादी हिंदू प्रयत्नशील हैं, उसी तरह मुसलमान भी। परंतु स्वार्थ एक अजीब सत्ता है। यहाँ प्राणों का भरा हुआ आनंद बिलकुल ही नहीं, सिर्फ़ एक अभाव की आग भड़कती है। देश दीन है, दुःखी है, परतंत्र है, स्वाधिकार-रहित है, इस तरह की अभाववाली जितनी भी बातें होंगी, वे जिस तरह प्राण-हीन हैं, उनकी पूर्ति के लिये लड़ाइयाँ, उद्योग आदि भी उसी तरह प्राण-हीन। कारण, स्वार्थ ही दोनो का मूल है। यदि ब्रिटेन के वीर सिंह हैं और भारत के दीन कृषक मेष, तो विचार की दृष्टि में, दार्शनिक की भाषा में, दोनो मनुष्यता से गिरे हुए हैं, और आधुनिक विकासवाद के अनुसार सिंह और मेष में कौन-सी सृष्टि अधिक उच्च है, यह बतलाना भी ज़रा टेढ़ी खीर है। मतलब यह कि जिस विज्ञान के बल पर पश्चिम सिंह बन सकता है, वह जिस तरह मनुष्यता की हद से गिरा हुआ होता है, उसी तरह हिंदुओं का ज्ञान-मूल-रहित आचारवाद, जिसने सदियों

से उन्हें गुलाम बना रक्खा है, और मुसलमानों की खुदापरस्ती भी, जो बुतों से घिरी हुई रहकर भी उनकी सत्ता से घृणा करें।

हिंदू और मुसलमान, दोनो जातियाँ ऊँची भूमि पर एक ही बात कहती हैं। इस लेख में हम यही दिखलाने की चेष्टा करेंगे। साथ ही हमारा यह भी विश्वास है कि जब तक हिंदू और मुसलमान इस भूमि पर चढ़कर मैत्री की आवाज़ नहीं लगावेंगे, तब तक वह स्वार्थ-जन्य मैत्री स्वार्थ में धक्का न लगने तक की ही मैत्री रहेगी—वैसी ही मैत्री, जैसी ब्रिटिश-सिंह और भारत-गऊ की हो सकती है।

"न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता;
डुबाया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता।"

(ग़ालिब)

जब कुछ नहीं था, तब खुदा था। यदि कुछ न होता, तो खुदा होता। मुझे होने ने (भव ने, संसार ने, 'हुँ' इस भाव ने) डुबा दिया। मैं न होता, तो क्या (अच्छा) होता।

महाकवि ग़ालिब के ये भाव हर्फ़-हर्फ़ वेदांत से मिलते हैं। जब कुछ नहीं था, तब खुदा था, यही वेदांत की तथा हिंदू आस्तिक और नास्तिक दर्शनों की बुनियाद है। जहाँ ईश्वर की सत्ता है, वहाँ संसार नहीं। इसी पर गोस्वामीजी लिखते हैं—

"जिहि जाने जग जाय हेराई।"

यहाँ दोनो के भाव एक ही हैं। 'होने' ने या 'भव' ने ग़ालिब को डुबा दिया है अर्थात् दुनिया के ज्ञान ने उन्हें ससीम कर दिया है, संसार में डाल रक्खा है, जिसके लिये वह कहते हैं, यह न होता, तो क्या अच्छा होता! तब केवल खुदा का ही अस्तित्व रहता, जिसके लिये तब कहा है—

"None else exists and thou art that"

कबीर भी कहते हैं, जहाँ ज्ञान रहता है, वहाँ मोह नहीं रहता—

"सूर-परकास तहँ रैन कहँ पाइए
रैन-परकास नहीं सूर भासै;
होय अज्ञान तहँ ज्ञान कहँ पाइए
होय जहँ ज्ञान अज्ञान नासै।
काम बलवान तहँ प्रेम कहँ पाइए,
होय जहँ प्रेम तहँ काम नाहीं ;
कहत कब्बीर यह सत्य सुविचार है
समझ तू, सोच तू, मनहिं माहीं।"

आज तक मनुष्यों के मनों ने जितनी ऊँची उड़ानें भरी हैं, वे सब यहीं आकर ठहरती हैं। अन्यथा लक्ष्य-भ्रष्ट हो गई हैं। सांसारिक जितने भी चमत्कार हैं, उन सब पर प्रभुता करनेवाली यही भूमि है, और संसार में जितने भी भेद हैं, उन सब में साम्य स्थापित करनेवाली भ यही भूमि है। विना यहाँ आए हुए भेद का ज्ञान कदापि दूर नहीं हो सकता। यही हिंदुओं की अद्वैत-भूमि है। और, चूंकि यहाँ भेद-भाव नहीं रह जाता, इसीलिये इसे अद्वैत कहा भी है।

नज़ीर कहते हैं—

"तनहा न उसे अपने दिले तंग में पहचान;
हर बाग में, हर दश्त में, हर संग में पहचान।
बेरंग में, बारंग में, नैरंग में पहचान;
मंज़िल में, मुक़ामात में, फ़रसंग में पहचान।
नित रूम में औ हिंद में, औ जंग में पहचान;
हर राह में, हर साथ में, हर संग में पहचान।

× × ×

हर आन में, हर बात में, हर ढंग में पहचान;
आशिक़ है, तो दिलबर को हर रंग में पहचान।

यहाँ दुनिया की लावण्यमयी श्री भी है और वहाँ उस प्यारे की खोज भी। यह यहाँ विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है। यानी दुनिया भी है और खुदा भी। या यों कहिए कि वह खुदा ही दुनिया के अनेक रूपों में विराजमान है। गो० तुलसीदासजी की एक उक्ति इसी अर्थ पर बहुत ही सुंदर हुई है—

"अव्यक्तमेकमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने;
षट कंध, शाखा पंचविंश, अनेक पर्ण, सुमन घने।
फल युगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जिहि आश्रित रहे;
पल्लवित, फूलित, नवल नित संसार-विटप नमामि हे।"

यहाँ राम को ही उन्होंने वेद के मुख से संसार-विटप कहकर संबोधित किया है, जिसकी तारीफ़ में संसार की कोई वस्तु छोड़ी भी नहीं, जैसे तमाम संसार में राम ही का रूप भर रहा हो।

एक जगह महाकवि ग़ालिब कहते हैं—

"तेरे सर्वे क़ामत से एकक़द्दे आदम,
क़यामत के फ़ितने को कम देखते हैं।"

यहाँ महाकवि ग़ालिब क़यामत को एक आदमी-भर लंबी बतलाते हैं यानी क़यामत उतनी बड़ी है, जितना लंबा एक आदमी। यह प्रलय की सर्वोत्तम व्याख्या है। हरएक आदमी में प्रलय की नाशकारी कुल शक्तियाँ हैं, और वह चाहे, तो उन्हें प्रत्यक्ष कर सकता है। हर मनुष्य सौर-ब्रह्मांड से मिला हुआ भी उससे अलग है। संसार का अस्तित्व उसके पास सिर्फ़ इसलिये है कि वह अपने अस्तित्व पर विश्वास रखता है। जब मनुष्य सो जाता है, उस समय वह अपना अस्तित्व बहुत कुछ भूल जाता है। यही कारण है कि सुप्ति-काल में संसार का ज्ञान नहीं रहता। संसार के सिर पर जो क़यामत क्रीड़ा कर रही है, इसको प्रत्यक्ष

करनेवाला वही है, और उसका शरीर भी क़यामत के क़ानून के अंदर है। इसलिये क़यामत को एक ही आदमी के क़द के बराबर कहा, और यह केवल साहित्यिक उपमा ही नहीं, किंतु दार्शनिक महान् सत्य हो गया है।

बिलकुल यही भाव सूरदासजी के हैं, जहाँ उन्होंने बालक कृष्ण की वर्णना की है—"प्रभु पौढ़े पालने पलोटत" आदि-आदि। यहाँ भी श्रीकृष्ण के हिलने-डुलने से जो क्रिया होती है, वह प्रलय ही है—"बिडरि चले घन प्रलय जानि कै;" कारण, किसी भी चेतन के हिलने से सौर-ब्रह्मांड हिलता-डोलता है, यह सूरदासजी के कहने का मतलब है। श्रीकृष्ण की चेतन-क्रिया में संसार डोल रहा है, कहीं-कहीं प्रलय हो रहा है, दिग्दंती बड़े धैर्य से धरा-भार को धारण कर रहे हैं। यहाँ भी एक ही की चेतन-क्रिया से संसार में क़यामत आ रही है, प्रलय मचा हुआ है, और इसे समझानेवाले सूरदासजी "सकट पग्रु पेलत"— धीरे-धीरे चल रहे हैं। ग़ालिब और सूरदास की उक्तियाँ बिलकुल मिल जाती हैं। कोई विरोध नहीं देख पड़ता। वहाँ भी एक ही क़द के बराबर क़यामत की नाप होती है, और यहाँ भी एक ही कृष्ण की चेतन-क्रिया से आफ़त उठी हुई है। दोनो महाकवि इस सत्योक्ति में पूर्णतया सहमत हैं।

"कुछ ज़ुल्म नहीं, कुछ ज़ोर नहीं,
कुछ दाद नहीं, फ़रियाद नहीं
कुछ क़ैद नहीं, कुछ बंद नहीं,
कुछ जब्र नहीं, आज़ाद नहीं।
शागिर्द नहीं, उस्ताद नहीं,
वीरान नहीं, आबाद नहीं;
हैं जितनी बातें दुनिया की,
सब भूल गए, कुछ याद नहीं।
हर आन हँसी, हर आन खुशी,

हर वक्त अमीरी है बाबा;
जब आशिक़ मस्त फ़कीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा।
जिस सिम्त नज़र कर देखे हैं,
उस दिलबर की फुलवारी है;
कहिं सब्जी की हरियाली है,
कहिं फूलों की गुलकारी है।
दिन-रात मगन खुश बैठे हैं,
और आस उसी की भारी है;
बस, आप ही वह दातारी है,
और आप ही वह भंडारी है।
हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक्त अमीरी है बाबा;
जब आशिक़ मस्त फ़क़ीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा।
हम चाकर जिसके हुस्न के हैं,
वह दिलबर सबसे आला है;
उसने ही हमको जी बख्शा,
उसने ही हम को पाला है।
दिल अपना भोला-भाला है,
औ' इश्क बड़ा मतवाला है;
क्या कहिए और नजीर आगे,

अब कौन समझने वाला है।
हर आन हँसी, हर आन खुशी;
हर वक्त अमीरी है बाबा,
जब आशिक़ मस्त फ़क़ीर हुए;
तब क्या दिलगीरी है बाबा।"

(नजीर)

कविवर नजीर यहाँ फ़क़ीरी का हाल बयान कर रहे हैं। यह वह फ़क़ीरी है, जब तमाम दुनिया में अपना इष्ट-ही-इष्ट नज़र आता है। संसार की हर वस्तु में उसी का रंग चढ़ा देख पड़ता है। प्रहलाद के चरित्र-लेखक दिखलाते हैं कि शेर आता है, तो उससे भी प्रहलाद "हरि आए" कहकर लिपट जाते हैं। नरसी जी भूत देखते हैं, तो "आए मेरे लंबकनाथ" कहकर गाने और प्रेम-विह्वल होकर नाचने लगते हैं। एक सिद्ध श्वान पर बैठा हुआ भोजन कर रहा था, और कभी कभी अपना अन्न उस कुत्ते को भी खिला दिया करता था। दूर से कुछ लोगों ने यह तमाशा देखा। उसके पास गए। कहने लगे—"तुम कुत्ते की जूठन खाते हो, कैसे आदमी हो?" वह सिद्ध बड़ी देर तक चुप रहा। तब भी इन लोगों ने अपना व्याख्यान बंद नहीं किया। तब चिढ़कर वह सिद्ध कहता है—

"विष्णूपरिस्थितो विष्णुः विष्णुं खादति विष्णवे,
कथं हससि रे विष्णो सर्वं विष्णुमयं जगत्।"

सूरदासजी इन्हीं भावों पर कहते हैं—

"जित देखो तित श्याममयी है;
श्याम कुंज, वन, यमुना श्यामा,
श्याम गगन-घन-घटा छई है।
श्रुति को अच्छर श्याम देखियत,
दीप-शिखा पर श्यामतई है;

मैं बौरी की लोगन ही की
श्याम पुतरिया बदल गई है।
इन्द्र-धनुष को रंग श्याम है,
मृग-मद श्याम, काम विजयी है;
नीलकंठ को कंठ श्याम है,
मनो श्यामता बेलि बई है।

कवि के भाव-नेत्र चारो तरफ श्यामको ही प्रत्यक्ष करते हैं। तमाम संसार में वह एक ही श्याम-छवि रमी हुई है। रामायण में गोस्वामी तुलसीदासजी इस भाव की सुंदर व्याख्या-सी कर देते हैं। जिस कारण से यह इष्ट मूर्ति भक्त को चारो ओर दिखलाई पड़ती है, उस कारण की जड़ चित्त में है, जहाँ इष्ट की छाप पड़ जाने पर फिर और कोई रूप नहीं देख पड़ता, दूसरे रूपों की सत्ता छिप जाती है।

"चित्रकूट चित चारु, तुलसी सुभग सनेह बन,
सिय-रघुवीर-बिहारु, सींचत माली नयन-जल।"

मृत्यु की नश्वरता को दिखलाते हुए कविवर नजीर कहते हैं—

"जब चलते-चलते रस्ते में
यह गौन तेरी ढल जावेगी,
यह बधिया तेरी मिट्टी पर
फिर घास न चरने पावेगी।
यह खेप जो तूने लादी है,
सब हिस्सों में बट जावेगी।
धी, पूत, जमाई, बेटा क्या,
बनजारन पास न आवेगी।
सब ठाट पड़ा रह जावेगा,
जब लाद चलेगा बंजारा।
क्या जी पर बोझ उठाता है,

इन गोनों भारी-भारीके।
जब मौत का डेरा आन पड़ा,
तब दोनों हैं व्यापारी के।
क्या साज जड़ाऊ ज़र-जेवर,
क्या गोटे थान किनारी के,
क्या घोड़े, जीन सुनहरी के,
क्या हाथी लाल अमारी के।
सब ठाट पड़ा रह जावेगा,
जब लाद चलेगा बंजारा।
मग़रूर न हो तलवारों पर,
मत भूल भरोसे ढालों के।
सब पट्टा तोड़ के भागेंगे,
मुँह देख अजल के भालों के।
क्या डिब्बे मोती-हीरों के,
क्या ढेर खज़ाने मालों के;
क्या बक्चे ताश मुशज्जर के,
क्या तख्ते शाल-दुशालों के,
सब ठाट पड़ा रह जावेगा,
जब लाद चलेगा बंजारा।"

नश्वर संसार का जो चित्र यहाँ विवेक को जाग्रत् करने के लिये नजीर साहब ने खींचा है, उसका प्रभाव हिंदू-कवियों पर पहले ही से बहुत ज्यादा रहा। नश्वरता पर प्रायः यहाँ के सभी कवियों ने कविताएँ लिखी हैं। भगवान् शंकराचार्य आदि धर्म-प्रचारकों से लेकर आधुनिक कवियों तक में यह भाव यहाँ परिपुष्ट ही मिलता है—

"कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः
का मे जननी को मे तातः;

इति परिभावय सर्वमसारं
विश्वं त्यक्त्वा स्वप्न-विचारम् ।
पुनरपि जननं पुनरपि मरणं
पुनरपि जननी-उठरे-शयनम् ;
इह संसारे खलु दुस्तारे
कृपया पारे पाहि मुरारे ।

पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः
पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः ।
पुनरप्ययनं पुनरपि वर्षं
तदपि न मुंचत्याशामर्षम् ॥"

(श्रीशंकराचार्यः)

"चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर ।
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उससे हारी होड़ लगाई ।"

(श्रीजयशंकर 'प्रसाद')

"लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर,
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर;
शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर,
घुमा रहे नित घनाकार जगती का अंबर,
मृत्यु तुम्हारा गरल-दंत, कंचुक कल्पांतर,

अखिल विश्व ही विवर,
वक्र-कुंडल दिङ्-मंडल !
अये दुर्जेय विश्वजित् !
नवाते शत सुरवर नरनाथ,

तुम्हारे इंद्रासन-तल माथ।
घूमते शत-शत भाग्य अनाथ
सतत रथ के चक्रों के साथ।

तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियंत्रित,
उत्पीड़ित संसृति को करते हो पदमर्दित:
नग्न नगर कर भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित,
हर लेते हो विभव, कला-कौशल चिरसंचित;
आधि-व्याधि बहुवृष्टि पात उत्पात अमंगल,
वह्नि, बाढ़, भूकंप, तुम्हारे विपुल सैन्यदल;
अये निरंकुश पदाघात-से वसुधा टलमल,
हिल-हिल उठता है प्रतिपल पद-दलित धरातल !"

(श्रीसुमित्रानंदन पंत)

नश्वरता को प्रत्यक्ष करा देने पर ज़रा देर के लिये मन में वैराग्य का उदय होता है। फिर वह वैराग्य यदि स्थायी हो, तो मनुष्य संसार की नश्वर वस्तुओं से प्रेम करना छोड़कर एक ऐसी ज्ञान-स्थिति प्राप्त करता है, जिससे उसे यथार्थ शांति मिलती है। जिस तरह हिंदुओं में वैराग्य की यह शिक्षा मिलती है, उसी तरह मुसलमानों में भी। सूफ़ीवाद में तो ज्ञान, वैराग्य और मादकता, तीनो की प्रधानता है। मुसलमानों के दर्शन में तो नहीं; हाँ, क़ुरान के साथ अद्वैतवाद की सूक्तियाँ ज़रूर मिल जाती हैं। पर कविता में और सूफ़ियाने ढंग की कविता में यहाँ के बड़े-बड़े दर्शन-शास्त्र का तो बिलकुल जोड़ मिल जाता है। खान-पान और रहन-सहन का भेद रहने पर भी जिस विकास की ओर मुसलमान सभ्यता गई है, वह यहाँ से कोई पृथक् सत्ता नहीं। क़ुरान का असल तत्त्व जो

"ला इलाह इल्लिल्लाह"—

है, वह

"एकमेवाद्वितीयम्"

का अक्षर-अक्षर अनुवाद है। हम यह नहीं कहते कि कुरान की उक्ति अनुवाद के रूप में आई है; क्योंकि हमें मालूम है, ईश्वर को प्रत्यक्ष करनेवाले महापुरुष एक ही सत्य का प्रचार करते हैं। और, जिस तरह हिंदुओं के महापुरुषों ने ओत-प्रोत एक ही ज्ञानमय कोष का तत्त्व हासिल किया, उसी तरह मुहम्मद ने भी तपस्या द्वारा उस "अवाङ्-मनसोऽगोचर" सत्य का साक्षात्कार किया। सिंधू और बिंदु की उक्ति से ब्रह्म और जीव की जो बातें भारतीय-साहित्य में मिलती हैं, वही मुसलमान-कवियों की कविता में, दरिया और क़तरे के रूप से आई हैं।

तुमहिं मिलत नहिं होय भय, यथा सिंधुगत नीर।"

(तुलसीदास)

"इशरते-क़तरा है दरिया में फ़ना हो जाना।"

(ग़ालिब)

"यक क़तरए-मैं जब से साक़ी ने पिलाया है;
उस रोज़ से हर क़तरा दरिया नज़र आता है।"

खुदनुमाई परकी गई वह गुफ्तगू याद आती है, जो अपनी बाँदी के साथ शायद बेगम नूरजहाँ ने की थी, जब उसका चीनी आईना बाँदी के हाथ से गिरकर फूट गया था, और एकाएक महर्षि वाल्मीकि की तरह बाँदी के मुँह से यह शेर का एक टुकड़ा निकल पड़ा था—

"अज़ क़ज़ा आईनए-चीनी शिकस्त।"

"ख़ूब शुद सामाने खुदबीनी शिकस्त"—

यह मेहरुन्निसा का उत्तर था। तमाम हिंदोस्तान की साम्राज्ञी के हृदय में भी वैराग्य की यह भावना प्रबल थी—वह शिक्षा जो गोस्वामी तुलसीदास-जैसे महापुरुष ही दे सकते हैं—

"सेवहिं लखन सीयरघुवीरहिं;
जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं।"

एक तरफ श्रीरामचन्द्र की सेवा लक्ष्मण और सीताजी धर्म-भावना से प्रेरित होकर करते हैं, जैसे अपने परम इष्ट की सेवा की जाय, दूसरी तरफ महाकवि शिक्षा से भरी हुई उसकी उपमा में कहते हैं, जैसे अविवेकी पुरुष अपने शरीर की सेवा करते हैं—उसे किसी क्षण के लिये भी नश्वर नहीं समझते। यहाँ शरीर ज्ञान में बँधे हुए मनुष्य सदा ही नश्वरता के ग्रास में पड़े रहते हैं, यह भावना भी उद्दीप्त होती है, और आलंकारिक व्यंजना श्री रामचन्द्र की तल्लीन सेवा का बोध भी अच्छी तरह करा देती है—एक ढेले में दो पक्षियों का शिकार हो गया है।

"तुम मेरे पास होते हो गोया,
जब कोई दूसरा नहीं होता।"

(ग़ालिब)

यह बहुत ऊँचे दर्जे का प्यार है। सच्चा प्यार भी यही है। लोग इसका अर्थ यह भले ही करें कि निर्जन रहने पर ही प्रिय की याद आती है—दिल के आइने में उसकी सूरत देख पड़ती है, पर इसका मतलब वह नहीं। यह सांसारिक प्रेम नहीं, यह ईश्वर प्रेम है। जब मन बिलकुल निस्संग हो जाता है, किसी भी दूसरे से लगावट नहीं रहती, तभी उस मन में ईश्वर का ध्यान आता है, वह भगवत्-संग प्राप्त करता है, वह मित्र जिसके लिये कहा है—"राम प्राण के जीवन जी के"—मिलता है, साथ रहता है, इसी क्षण को इष्ट-प्राप्ति का समय कहते हैं, और इसी अवस्था में वह मिलता भी है। कविवर मैथिलीशरण कहते हैं—

"प्रभो, तुम्हें हम कब पाते हैं,
जब इस जनाकीर्ण जगती में एकाकी रह जाते हैं।"

ज़ौक़ के एक शेर में परलोक, यहाँ तक कि अर्थ लगाने पर हिंदुओं के पितृलोक, देवलोक, प्रेतलोक, आदि की सिद्धि भी हो जाती है—

"अब तो घबरा के यह कहते हैं कि मर जाएँगे ;
मर के भी चैन न पाया, तो किधर जाएँगे।"

(ज़ौक़)

मृत्यु के बाद चैन न पाने की उक्ति परोक्ष रीति से उसी प्रेत-योनि को सिद्ध कर रही है, जहाँ जीवों को शांति नहीं मिलती, एक प्रकार की जलन, क्षोभ, अशांति तथा चंचलता बनी रहती है। इसके अर्थ से प्रेतलोक की सिद्धि कोई भले ही न करे, पर इतना तो ज़ाहिर ही है कि मृत्यु के बाद अशांति की चिंता कवि को लगी हुई है। वह इस पर विश्वास भी करता है। दूसरे, महाकवि ग़ालिब को भी ज़ौक़ का यह शेर पसंद आता है। इसके मानी ये हैं कि इस तत्त्व पर वह भी विश्वास करते हैं। बहिश्त और दोज़ख़ तो मुसलमानों के शास्त्र मानते ही हैं, जहाँ हिंदुओं का बिलकुल साम्य है। यह बेचैनी की हालत जो मृत्यु के बाद होती है, और उस मृत्यु के बाद जिसे आत्महत्या कहते हैं—"मर जाएँगे" के अर्थ से असमय मृत्यु या आत्महत्या का ही भाव व्यंजित है—बहुत कुछ उसी अवस्था की वर्णना है, जो प्रेतयोनि में होती है। यहाँ हिंदू और मुसलमान मृत्यु के बाद के एक ही विचार रखते हुए देख पड़ते हैं। यों तो प्रेत या जिन्न मुसलमानों के यहाँ भी कम नहीं—

"जिन्नों ने वहीं अपना मैख़ाना बना डाला।"—

और, रात बारह बजे शहर-भर की मिठाई खरीद लेने वाले लखनऊ के जिन्न अब भी देहात में काफ़ी मशहूर हैं, वे आज कल की व्याख्या के अनुसार मुँह ढककर आनेवाले छज्जे पर बैठनेवालियों के यार और आशिक़ भले ही हों, अथवा चाहे लखनऊ की प्राचीन व्याख्या के अनुसार १२ लाख साफ़ करने के बाद रईसों के शोहदा-खाते में नाम लिखानेवाले हों।

हिंदी में तो—

"भूत-पिशाच निकट नहिं आये;
महावीर जब नाम सुनावे।"

से लेकर

"साबर-मंत्र-जाल जिन सिरजा", "प्रेत, पितर गंधर्व;
बंदौं किन्नर, रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व।"

तक, पता नहीं, इस परलोकवाद की कितनी चर्चा हुई है, और समाज में इस पर कितना दृढ़ विश्वास है—जब कि ज्ञान की जननी गीता स्वयं कहती है—"पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः" और केशवदास का प्रेत होना तमाम साहित्यिकों के दिमाग़ में भरा ही हुआ है, उधर गोस्वामी तुलसीदासजी की जीवनी से "बसै तहाँ इक प्रेत पुरानो" जब कि अभी तक नहीं निकाला गया, और उन्हें भगवान् श्रीरामचंद्र से मिलने का पता भी बताता है प्रेत!

"जहाँ में हाली किसी का अपने सिवा भरोसा न कीजिएगा;
यह भेद है अपनी ज़िंदगी का कि इसका चर्चा न कीजिएगा।"

हाली साहब जिस तरह यहाँ हरएक को अपनी ही सत्ता पर जोर देने के लिये कहते हैं, और इसे ही वह दुनिया में कामयाब होने की कुंजी समझते हैं, इसी तरह यहाँ के हिंदुओं की भी शिक्षा है। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः, न मेधया न च बहुना श्रुतेन" में सबसे कठिन कार्य आत्म-प्राप्ति के लिये जिस तरह मनुष्य को अभ्यंतर-बल प्राप्त करने के उपदेश दिए गए हैं, उसी तरह अन्य सफलताओं के लिये भी। यथार्थ बल अपने ही भीतर से प्राप्त होता है, जिससे कुल सिद्धियाँ हासिल होती हैं, यही यहाँ की शिक्षा है। इस प्रकार मन को प्रबल करने के लिये ही कहा है—

"मन के हारे हारिए, मन के जीते जीत;
परब्रह्म को पाइए, मन ही की परतीत।"

यहाँ के साहित्य में अपनी ही आत्मा पर विश्वास रखने के

केवल उपदेश ही नहीं, किंतु जीवनियाँ भी अनेक लिखी हुई हैं। इस कोटि में स्त्री और पुरुष, दोनो को बराबर जगह मिली है। पार्वती तपस्या में दृढ़निष्ठ हैं। वह महादेव को पति-रूप से प्राप्त करना चाहती हैं। उनकी तपस्या की परीक्षा करने, उनके मनोबल को तोलने के इरादे से ऋषि उनसे कहते हैं—"तुम क्यों व्यर्थ ही शिव-जैसे एक पागल के पीछे पड़ी हो ? इससे तो अच्छा है कि विष्णु की कामना करो। वह सुंदर हैं, और सब तरह से महादेव से श्रेष्ठ हैं।" यह सुनकर पार्वती का उत्तर नम्र होकर भी दृढ़ होता है। वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहती हैं। कहती हैं —

"सत्य-सत्य शिव अशिव-घर, विष्णु सकल-गुण-धाम ;
जाको मन रम जाहि सँग, ताहि ताहि सन काम।"

उद्धव को अपने ज्ञान का गर्व है। श्रीकृष्ण उनका यह अहंकार तोड़ना चाहते हैं। साथ ही एक दूसरे मन का बल भी उन्हें दिखाना चाहते हैं। इस विचार से वह उद्धव को गोपियों के पास अखिल व्यापक निरंजन ब्रह्म का उपदेश करने के लिये भेजते हैं। उद्धव गोपियों के बीच में व्यापक ब्रह्म की कथा सुनाते हैं, और गोपियाँ बार-बार उनसे श्री कृष्ण का कुशल तथा अन्यान्य संवाद पूछती हैं, बार-बार उद्धव को उनके विषय से अलग कर देती हैं। पर वह भी अपने ज्ञान-हठ पर अड़े रहते हैं। वह भी बार-बार वैराग्य की वाणी के प्रभाव से उनका प्रेम-जन्य मोह दूर कर देना चाहते हैं। पर गोपियों का प्रेम शरीर-प्रेम नहीं था। उसमें कृष्ण की चेतन सत्ता थी, जिससे उनके हृदय का मोहांधकार दूर हो चुका था। वे प्रेम ही की वाणी में जो उत्तर देती हैं, उसका फिर प्रत्युत्तर उन्हें उद्धव से नहीं मिलता—

"ऊधो, मन न होहिं दस-बीस।
एक रह्यो सो गयो स्याम सँग,
काह करब अज, ईस ?"

और "राधे-दृग-सलिल-प्रवाह में सुनौ हो ऊधौ, रावरे समेत ज्ञान-गाथा वहि जावैगी" आदि सुनकर प्रेम के प्रभाव से उद्धव मौन ही रह जाते हैं। यह यहाँ का मानसिक बल है, अपना अटल विश्वास, जिससे अपने संपूर्ण कार्य सा क हो जाते हैं। यही अँगरेजों का Concentration power (एकाग्रता-शक्ति) है "The real I is real He" अर्थात् यथार्थ मैं और यथार्थ वह (ईश्वर) एक ही है, अतः अपने पर यथार्थ विश्वास और उस पर अकृत्रिम विश्वास एक ही है।

"जन्म कोटि शत रगर हमारी ;
बरौं शंभु, न तु रहौं कुमारी ।"—

यह अपनी शक्ति पर विश्वास है और

"नट-मरकट इव सबहिं नचावत ;
राम खगेस, वेद अस गावत ।"

यह ईश्वर पर किया गया विश्वास है। यहाँ ईश ही की शक्ति सफल-काम है।

हिंदू और मुसलमानों के सामाजिक आचार-व्यवहार और वेष-भूषण आदि निस्संदेह एक दूसरे से नहीं मिलते, परंतु यह कोई बहुत बड़ा भेद नहीं। कारण, मनुष्य की जाँच उसकी मनुष्यता और उसके उत्कर्ष से होती है, और वहाँ ये दोनो जातियाँ एक ही पथ की पथिक तथा एक ही लक्ष्य पर पहुँची हुई जान पड़ती हैं। हिंदू-सभ्यता बहुत पुरानी है और मुसलमान-सभ्यता हिंदुओं के मुकाबले बहुत आधुनिक। यह तो हम दावे के साथ कहेंगे कि जहाँ भी सभ्यता ने अपने उत्कर्ष के प्रति संसार को आकृष्ट करना चाहा है, जहाँ कहीं उसकी सुप्त अपार शक्ति जाग्रत् हुई है, वहीं, किसी-न-किसी रूप में, प्रत्यक्ष या प्रकृति की अपर शक्तियों की तरह परोक्ष रीति से, हिंदू-सभ्यता के बीज संचालित हो गए हैं। आज संसार में जितने भी धार्मिक विचार अपना आधिपत्य जमाए हुए हैं, वे सब हिंदुओं के

किए हुए विचारों के अनुवाद से प्रतीत होते हैं। हमारा विचार है कि यह हिंदुओं की ही मानसिक दुर्बलता है, जिसके कारण वे हर तरह से पराधीन हो रहे हैं। यदि वे अपने आपको पहचानें, तो उनके भीतर के भेद-भाव तो दूर हों ही, किंतु संसार में एक अद्भुत साम्य का प्रचार भी हो, जिसकी अब तक संसार के लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं। जहाँ प्रतिद्वंद्विता के भाव प्रबल हैं, वहाँ मानवीय शक्ति भी नहीं, पशु-शक्ति काम करती है, चाहे कितने ही बड़े-बड़े शब्दों तथा वाक्यों की आवृत्ति वहाँ की जाय। मानवीय प्राथमिक शक्ति का विकास ही कार्य की शक्ति है। धर्म के अनुकूल चलकर शक्ति को विकसित करना, यही शास्त्रीय शिक्षा है। पर आज इसके प्रमाण बहुत ही कम रह गए हैं। पाशविक वृत्तियों की प्रबलता मानवीय वृत्ति को, जिसे वृत्ति कहते हैं, दबाए हुए है। युग-धर्म ही कुछ ऐसा बन रहा है कि प्रवृत्ति-मूलक बातें अत्यंत रुचिकर मालूम देती हैं, यद्यपि उनसे पतन के सिवा एक इंच भी उत्थान की गुंजाइश नहीं। यही कारण है कि समाज के विवेक की तुला टूट गई है। बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे सब मनुष्य, सब संप्रदाय अंधानुसरण को ही सनातन-धर्म या अपना सच्चा मज़हब समझ रहे हैं। उधर विज्ञान के प्रकाश ने वहाँ के मनुष्यों के हृदय से यह विश्वास ही दूर कर दिया है कि ईसा को भजोगे, तो डूबते वक्त पानी में आप ही ज़मीन बन जायगी। वहाँ नास्तिकता का राज्य है, यहाँ अंधानुकरण का। संसार की अशांति इस तरह कब दूर हो सकती है? मोटर, रेल, तार, जहाज़, मैक्सिम गन, एरोप्लेन, टारपेडो, मेन आफ़् वार और तीस मील की चाँदमारी करनेवाली तोपें, बम, तरह-तरह की विषैली बारूदें, हजारहा मैशीनें, ये सब अभाव ही की आग भड़कानेवाले हैं; इनसे कुछ मनुष्यता की प्राप्ति नहीं होती। योरप में जो दो-चार मनीषी मनुष्यता के तत्त्व को समझकर उसका प्रचार तथा प्रसार करते हैं, उन्हें वहाँ की गवर्नमेंट

से तिरस्कार ही मिलता रहता है। प्रभुता स्वयं अनिष्टकर है, इसलिये विभूतिपाद के आचार्यगण मनुष्यता के दायरे से सदा ही निकाले हुए रहे हैं। मनुष्यता किसी क़ीमत से नहीं मिलती। वह तो एक प्रकार की शिक्षा है, जिस पर अभ्यास दृढ़ हो जाने पर मनुष्य मनुष्य कहलाता है। भारत की राष्ट्रोन्नति के लिये जो अनेक प्रकार की चर्चाएँ सुनने में आती हैं, उनसे प्रतीत होता है कि यहाँ लोगों की आँखों में योरप का ही चश्मा लगा हुआ होता है, और वे बिचारे झूठ बोलकर ज़िंदगी की ज़िंदगी पार कर देनेवाले भारतवर्ष के वकील-लीडर यह क्या जानें कि यहाँ की शिक्षा किस रंग की चिड़िया थी? भारतवर्ष में जो सबसे बड़ी दुर्बलता है, वह शिक्षा की है। हिंदुओं और मुसलमानों में विरोध के भाव दूर करने के लिये चाहिए कि दोनो को दोनो के उत्कर्ष का पूर्ण रीति से ज्ञान कराया जाय। परस्पर के सामाजिक व्यवहारों में दोनो शरीक हों, दोनो एक दूसरे की सभ्यता को पढ़ें और सीखें। फिर जिस तरह भाषा में मुसलमानों के चिह्न रह गए हैं, और उन्हें अपना कहते हुए अब किसी भी हिंदू को संकोच नहीं होता, उसी तरह मुसलमानों को भी आगे चलकर एक ही ज्ञान से प्रसूत समझकर अपने ही शरीर का एक अंग कहते हुए हिंदुओं को संकोच न होगा। इसके बिना, दृढ़ बंधुत्व के बिना दोनो की गुलामी के पाश कट नहीं सकते, ख़ासकर ऐसे समय जब कि फूट डालना शासन का प्रधान सूत्र है।

हिंदुओं की जो मानसिक स्थिति पहले थी, वह मुसलमानों के आक्रमण-काल तक नहीं थी। पंच-देवताओं की उपासना में पड़े हुए हिंदू द्वैतवादी हो रहे थे। यों तो भारतवर्ष की धार्मिक स्थिति भगवान् बुद्ध से पहले ही बिगड़ गई थी। बुद्ध के आने के बाद कुछ सुधरी, और यही कारण है कि बुद्ध-काल में कला के विस्तार के साथ-ही-साथ भारत की शासन शृंखला भी सुदृढ़ हो गई थी।

भगवान् शंकर के आविर्भाव के पश्चात् भी भारतवर्ष की कुछ अच्छी अवस्था थी। पर देश सब तरह से मानसिक दुर्बल हो रहा था। वह शंकराचार्य द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद की धारणा करने में समर्थ नहीं रहा। उसे एक ऐसे धर्म की जरूरत पड़ी, जो सरस हो, और गृहस्थों के सामने त्याग का महान् आदर्श न रख उन्हें कोई प्रेम तथा पूजा का मार्ग बतलावे। मनुष्यों के मन के अनुकूल धर्म का भ उद्भव हो जाता है भगवान् रामानुज ने वैष्णव धर्म का प्रचार किया। इसमें ईश्वर और संसार, दोनों रहे। अद्वैत को सूक्ष्म छान-बीन नहीं रही। किंतु रस से भरा हुआ एक दूसरा ही प्रेम-धर्म लोगों के सामने आया। चूँकि साधारण मनुष्य जन्म से ही मूर्ति-प्रेमी हुआ करता है, और संसार के अस्तित्व पर विश्वास रखता है, इसलिये यह विशिष्टाद्वैतवाद उस समय के लोगों को बहुत पसंद आया। भारतवर्ष में आज भी अधिकाँश मनुष्य इसी संप्रदाय की शाखा-प्रशाखाओं में शामिल हैं। परंतु मूर्ति स्वयं ससीम होती है, इसलिये उसके उपासक भी, ससीम होने के कारण, भाव तथा क्रिया की भूमि में छोटे ही होते गए। महाभारत के समय से लेकर कई बार महापुरुषों ने भारतवर्ष को गिरने से रोकने की चेष्टाएँ कीं; पर स्वाभाविक गति में कोई रुकावट हो नहीं सकती। जिस हद तक इस देश को गिरकर पहुँचना था, उस अवश्यंभावी परिणाम को कौन रोकता? वह गिरता ही गया। उधर दीन-इसलाम की नई रोशनी अद्वैत वाद से भरी हुई फैली। उसका वह नवीन वेग कोई भी देश नहीं रोक सका। भारत भी जिस मानसिक अवस्था को प्राप्त था, उसके लिये हारना स्वाभाविक ही था। वह हारा। किसी भी वृहत तथा व्यापक वस्तु या धर्म से कोई भी ससीम वस्तु या धर्म हार जाता है। ससीम हो रहने के कारण भारत की शक्ति भी खंडशः हो रही थी। मुसलमानों की संगठित तलवारों की चोट से भारत का स्वाधीन दंभ चूर-चूर हो गया।

हिंदुओं के साथ मुसलमानों का यह प्रथम संबंध हुआ जेता और विजित के भावों से। वे शासन भी करने लगे। उस समय के संगठित मुट्ठी-भर मुसलमान किस तरह आतंक की तरह तमाम भारत-वर्ष में फैल गए, यह पढ़कर आश्चर्य होता है। उनकी दक्षता, उनकी कार्य-पटुता के प्रभाव से राजपूत-शक्ति ने भी उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। जहाँ देखिए, जिस प्रांत में देखिए, मुसलमानों का ही शाशनाधिकार हो गया। पठानों के बाद मुगल आए। ऐयाशी में पड़कर पठान दुर्बल हुए, और उसी ऐयाशी ने मुगल-बादशाहत को बरबाद कर दिया। खैर, मुसलमानों के वे भाव, जो पहले से हिंदुओं के प्रति थे, अब भी ज्यों-के-त्यों ही रह गए, और यह स्वाभाविक भी है। अभी उस दिन तक यह प्रचार किया जाता था कि एक मुसलमान ५० हिंदुओं के लिये काफ़ी है। और, यह सब हिंदुओं की ही कमजोरी है। इस समय कुछ को छोड़कर प्रायः सभी हिंदू क्षुद्रतम सीमा में बँधे हुए हैं। यही कारण है कि देश शताब्दियों के लिये पिछड़ा हुआ नजर आ रहा है। मुसलमान भी अब वे मुसलमान नहीं रहे। एक प्रकार की कट्टरता मूर्खता से मिली हुई रह गई है। इन दोनो जातियों के सुधार के लिये मनुष्यता की शिक्षा आवश्यक है, जिससे एक दूसरे के प्रति प्रेम तथा आदर-भाव धारण करें। तब तक योरप का वर्तमान धर्म अवश्य ही नष्ट होगा। वहाँ विज्ञान की चर्चा से जिस नास्तिकता का उदय हुआ है, उससे सुफल के ही होने की संभावना है। चरम नास्तिकता और चरम आस्तिकता एक ही बात है। शून्य को चाहे कुछ नहीं कह लीजिए या सब कुछ, वह पूर्ण भी है और कुछ भी नहीं। यही आस्तिक और नास्तिकवाद का रहस्य है। यही कपिल, बुद्ध और नास्तिक दर्शन कहते हैं और यही वेदांत, गीता और पातंजल आदि आस्तिक दर्शन। यही सबसे ऊँची भूमि है। यहीं हिंदू और मुसलमान परस्पर मिलते हैं। योरप

के भौतिक विज्ञानवाद को और एक सीढ़ी चढ़ना है, बस । सब फैसला वही प्रकृति कर देगी, जिसने इतना सब चमत्कार पैदा किया है । फिर ये सब "यथा पूर्वमकल्पयत्" ही रहेंगे । अन्यथा मनुष्य की जीवन-प्रगति रुकेगी । मशीन के पहिए जितना तेज़ चलते हैं, आदमी की चाल उतनी ही द्रुत बंद होती है । इस पर बहुत कुछ लिखा-पढ़ी हो चुकी है, और होती जा रही है । यही कारण है कि महात्माजी का चर्खावाद यहाँ की अपेक्षा योरप के किसानों को अधिक पसंद आया है, और वे अपने जीवन को अन्नवस्त्रोत्पादन के पश्चात् शुभचिंतन में लगाने का प्रयत्न भी कर रहे हैं । जब तक अनेक प्रकार के वितंडा-वाद भारतवर्ष में चक्कर काट रहे हैं, तब तक यदि हिंदू और मुसलमान अपनी-अपनी यथार्थ प्राचीन शिक्षा को प्राप्त कर दबाने या दबनेवाले अपर भावों को त्याग कर आपस में मैत्री स्थापित करके एक दूसरे के उत्कर्ष को समझने की चेष्टा करें, तो दोनो के लिये उन्नति का रुका हुआ रास्ता निस्संदेह खुल जायगा ।

———

एक बात

हिंदी की हितैषणा की गाँठ में गठिए का असर उसके सेवकों के तर दिमाग के कारण बढ़ता ही जा रहा है। भारतीयता का ज्योतिर्मय अर्थ विश्व की तमाम विभूतियों को भास्वर करता रहा, पर हिंदी के हित-चिंतकों के प्रस्तर-हृदय के भीतर, स्रोतस्वती ही के हृदय के रोड़े की तरह, आलोक-स्निग्धता कुछ भी न पहुँची। भारत के दृश्य-काव्य में उन्होंने पाषाण-मृत्तिका, सोना-चाँदी, हीरे-मोती और पेड़-पौधे ही देखे, जैसे वणिकों ने रत्नाकर से जड़-रत्न ही लिए, उसका अपार दर्शन न लिया, वह किस तरह लक्ष्मी और रंभा दोनो—विद्या और अविद्या, परा और अपरा, तृप्ति और तृष्णिका—का पिता है, वे न समझे। जो भावों और रत्नों की खान अदूर-दर्शन है, वह हिंदीवालों की दूरदर्शिता के फेर में अपनी नवीन चहल-पहल खोकर वृद्ध हो गया, वार्द्धक्य की जड़ता में जकड़कर मृत्यु के पल गिनने लगा, गृहस्थ के गृह की तरह, अर्थ के न रहने पर नवीन आच्छद के सौंदर्य और जीवन से रहित हो।

आकाश सभी पदार्थों या केवल अर्थों को रूप, रेखा, शब्द और अर्थ देता है, क्योंकि अवकाश के भीतर ही सांत सन्निविष्ट मिलता है। आकाश नभ है, और प्रभा भी। गोद में सूर्य को लेकर प्रभा अपने नभपति की प्रतिष्ठा की परिचायिका। यह सब शब्दार्थ सृष्टि यहाँ के समझनेवाले लोग ही सीमा और निःसीम में भारत हैं। इसीलिये वे अमर हैं।

"बदलता है रँग आसमाँ कैसे-कैसे" के अनुसार नभ भास्वर में सप्ताश्व बनकर स्वयं ही अनेक रंग है। जो विष संसार को दग्ध करने वाला

और आजकल के विचार से अभारतीय होगा, वह चरित्र हीनता, रोग, शोक या कुछ भी हो, वह शिव के कंठ में राम-नाम है, नील-कंठ आकाश की नीलिमा का तत्त्व समझकर गरलाभरण बन गए हैं, इसीलिये नील कंठ के नाम के द्वारा वह काव्य की दृष्टि से अत्यंत सुंदर हो रहे हैं, सकलंक चंद्र की तरह, गौरी के कपोल तिल के सदृश।

हमारे यहाँ की भाव राशि अँगरेजी की 'put' क्रिया की तरह है, जो अतीत और वर्तमान में एक रूप है। भविष्य की नवीनता की 'will' से उसे दर्शन-मात्र के लिये विभूति अधिक मिलती है, पर 'will' सर्वथा उसी पर अवलंवित है। अन्यथा अचलायत और 'put' अपने निर्विकार चित् से पूर्ववत् स्थितिशील। 'will' अव्यय के अव्ययी भाव का 'put' की व्यापकता के साथ जैसा सहयोग है, ऐसा ही नवीन के साथ प्राचीन का।

ज़रूरत यहाँ के विश्वजनीन भावों के समझने की है। जो भाव विश्व-भर के लिये हैं, वे विश्व भर के लिए हुए हैं। इसलिये व्यक्तिगत छाप उनमें नहीं लग सकती। एक-एक शब्द इसका प्रमाण है। योरप ने बड़ा इतिहास-संग्रह किया है, पर I, you he आदि कोष के शब्द किसके बनाए हुए हैं; इसका इतिहास नहीं मिलता। हमारे यहाँ इसका दर्शन-मात्र है। प्रत्येक शब्द अनादि है। अर्थात् तमाम विश्व उसकी सृष्टि के लिये उत्तरदायी है, क्योंकि तमाम विश्व अनादि है।

एक शब्द के विकार के लिये भी तमाम संसार उत्तरदायी है। 'प्रसार' शब्द जब 'पसार' बना, तब सब लोग इसके नियामक हैं। मुमकिन है, किसी एक ने लिखा हो, पर सबने या समष्टि ने समर्थन किया। यदि ऐसा न होता, तो 'पसार' का प्रचलन ही न हो पाता। इसलिये "मौनं सम्मतिलक्षणम्" के द्वारा 'पसार' के लिखने वाले के साथ सभी लोगों ने सहयोग किया। अपरंच 'पसार' की र-फला

समष्टि को खटकती थी। इस खटकने के बाद 'प्रसार' लिखा गया। इसलिये 'पसार' पहले ही लिखा जा चुका था, जैसे अर्जुन के मारने के पहले कृष्ण के 'मैं' ने सबको मार डाला था, क्योंकि कृष्ण का विशुद्ध, बोधमय 'मैं' था और कौरवों का अज्ञानमय। अज्ञान के तिमिर को बोधमय सूर्य ने नष्ट कर दिया था; रहा था भीतर केवल कृष्ण का मैं, जो विराट् के साथ अब भी संबद्ध है, और अज्ञान-जीर्णता को नाश में परिणत करता रहता है।

प्रश्न हो सकता है कि 'पसार' के साथ मुसलमानों या अंगरेजों या अपर जातियों का क्या सबंध है, जो लिखा गया कि प्रत्येक गति के साथ, प्रत्येक विवर्तन के साथ तमाम संसार संयुक्त है। पहले तो पेट के साथ पीठ की तरह प्रत्येक गति का एक परोक्ष संबंध है; दूसरे, विश्व के जिस संघात के कारण 'प्रसार' की र-फला को पद-च्युत होना पड़ा, वह विजातीय भावनाओं से ही हुआ है, नहीं तो 'प्रसार' प्रसार ही बना रहता, उसे 'पसार' बनने की नौबत ही न आती।

लड़ने के बाद शांति की इच्छा होती है, और शांति के बाद लड़ने की। इसी तरह संस्कृत की प्रौढ़ता को प्रहार मिला, जिसका कारण विश्व है, जिसके सामने उसने अपनी प्रौढ़ता प्रदर्शित की। जब अन्य वर्ण-संप्रदाय प्रौढ़ हो चले, तब संस्कृत को प्रहार मिलने लगा। वह बालपन में बदल गई, सुख-लालसा प्रधान हो गई, ओज खलने लगा, लालित्य की प्यास बढ़ चली, 'आर्य' 'आय्य' हो गए। यह होना इसी तरह विश्वजनीन है, और इसी तरह सब अपर भाव और रूप भी। यों भी एक जगह के साथ दूसरी जगह का अविच्छेद संबंध बना हुआ है।

यही यथार्थ भारतीयता है। विश्व-धर्म, मनुष्य-धर्म या ऐसा ही कुछ किसी भी विशेषण विशेष्य से कहा जाय। यह मानव-धर्म का स्वातंत्र्य हमारे साहित्यिकों के मस्तिष्क में स्मृति तथा नीति की सीमा

में पड़कर अपने मूल-कारण को अमर-बेलि की तरह खो बैठा है। हमारे साहित्यिक इतना तो समझते हैं कि सचाई से स्वतंत्रता हासिल होगी। स्वर्णलता की ही तरह हमारी संस्कृति चमकीली है, परंतु वे यह छोड़ देते हैं कि उस स्वर्णलता का आश्रय अपावन झाड़ भी उसके साथ-साथ है। माता के उदर में, पिता के ग्राह्य शुक्र के साथ शरीर और मन को जिस तरह पुष्टि मिलती रहती है, कोई संबंध न रहने पर भी नाड़ियों के रक्त-संचार और हृदय की धड़कन तक में पूर्ण संबंध स्थापित है, पार्श्व-वर्तन में कोई असुविधा नहीं होती, और नारायण के जल-शयन का पूरा रूपक—सृष्टि के प्रारंभ-काल का दृष्टिगोचर हो जाता है, उसी तरह हमारी सभ्यता देश और काल से *निरवच्छिन्न* रहकर भी चिरविच्छिन्न है।

इसीलिये किसी एक के प्रति प्रतिहार और किसी दूसरे के प्रति प्यार *क्षुद्र सीमा-धर्म हो सकता है, महान् मानव-धर्म नहीं। मन के* कोलाहलमय महासमुद्र का समुत्सुक तरंगांग जो मानव अपने उद्गम को समझ लेता है, वह व्यष्टि में रहकर भी समष्टि और परिखा में परिधि पाकर भी पारावार है। देश को इन्हीं मानवों की आवश्यकता रही है, देश को इन्हीं मानवों ने कुछ दिया है। मन का स्वतंत्र रूप देह की सीमा को अतिक्रमण करता है, यहीं सीमा की क्षुद्रता साबित होती रहती है। हर आदमी परदेश में रहकर अपने घर की बात सोचता है, पर देह जड़ पाथेय के साथ ही पथ पूरा कर पाएगी। अपनी भौतिक स्वतंत्रता के अर्जन के लिये स्वतंत्र मन से हम अपने ही घर में बंध स्थापित कर उसके इंगितों को समझ सकते हैं। वहीं, हमें साम्राज्ञी भारतीयता अपने कभी पराधीन न होने की शिक्षा देगी। वह सृष्टि की सबसे बड़ी विभूति, सबसे बड़ी किताब है। सत्य उसी सरस्वती का धर्म-पुत्र है। सत्य स्वतंत्र माता का सदा स्वतंत्र बालक है। उस पर कोई नियंत्रण नहीं। उसके पास एक ही किताब है उसकी माता। वह

लिखी किताब नहीं पढ़ता। जब पढ़ना चाहता है, तब माता डाँट देती है। समझा देती है। कहती है, बाहर तू भटक जायगा, सब मेरी लिखी हुई किताबें हैं, वहाँ न जा। सत्य नहीं जाता, इसीलिये वह जब चाहता है, माता के साथ मिलकर तदात्म हो जाता है।

मनुष्यों का यही सत्य आदर्श है, तभी वे भारत हैं। यहाँ से विकार के प्रति अश्रद्धा नहीं होती। कृष्ण यहीं महामनुष्य, शुकदेव के रास-रस-विहारी महापुरुष हैं।

रवींद्रनाथ हिंदोस्तानियों के ग़रीब डफली-राग का कवियाने ढंग से मज़ाक़ उड़ाते हुए "खचखचखचांकार" लिखकर अपनी श्री-संपन्नता का परिचय दे सकते हैं, पर वह "खचखचखचांकार" का संबंध जातीय स्वर मीरा, कबीर, सूर और तुलसी की पावन लड़ियों में कितनी निर्मल ज्ञान-धारा बहाता है, यह अगर वह समझते होते, तो अपने अर्थ के साथ काफ़ी वृद्ध होकर "कोंकरकों" वाले "बाउल के स्वर" पर अंत में गला और क़लम न फेरते रहते। शायद बँगला के कवि इस अपने ग़रीब-राग को बँगला की संपत्ति समझकर विश्व की संपत्ति समझते हैं, और पहली को हिंदोस्तानियों की समझकर कर्णकटु विश्व-विरहित! दूसरी बात यह कि जब ग़रीबों को छल या वैभव से शक्तिशाली मुग्ध करता है, तब वे मन-ही-मन कहते हैं कि अगर हम ऐसे होते, तो हम भी तुम्हें ऐसा कर सकते। इसकी ध्वनि कितनी गूढ़, तत्त्व के पर्दे के भीतर होती है! आप किसी को, उसके विकास-पथ की सुविधा कर दीजिए, वह धारा ज़रूर बह चलेगी। जब वह अपने पर्वत-पिता के अतल-स्पर्श में रहती है, तब भी वह निकलने के लिये बार-बार प्रयत्न करती रहती है, और अदृश्य या अल्पदृश्य होने पर भी समुद्र से छोटी नहीं रहती, क्योंकि दृष्टि का सूक्ष्म सूत्र, सूर्य का ताप-तत्त्व या अज्ञान के पत्थर-हृदय के भीतर से शाप के भाप का उसके साथ सहयोग रहता ही है। जहाँ रवींद्रनाथ अपना व्यक्तित्व ब्रह्म-व्यक्तित्व

में पड़कर अपने मूल-कारण को अमर-बेलि की तरह खो बैठा है। हमारे साहित्यिक इतना तो समझते हैं कि सचाई से स्वतंत्रता हासिल होगी। स्वर्णलता की ही तरह हमारी संस्कृति चमकीली है, परंतु वे यह छोड़ देते हैं कि उस स्वर्णलता का आश्रय अपावन झाड़ भी उसके साथ-साथ है। माता के उदर में, पिता के बाह्य शुक्र के साथ शरीर और मन को जिस तरह पुष्टि मिलती रहती है, कोई संबंध न रहने पर भी नाड़ियों के रक्त-संचार और हृदय की धड़कन तक में पूर्ण संबंध स्थापित है, पार्श्व-वर्तन में कोई असुविधा नहीं होती, और नारायण के जल-शयन का पूरा रूपक—सृष्टि के प्रारंभ-काल का दृष्टिगोचर हो जाता है, उसी तरह हमारी सभ्यता देश और काल से निरवच्छिन्न रहकर भी चिरविच्छिन्न है।

इसीलिये किसी एक के प्रति प्रतिहार और किसी दूसरे के प्रति प्यार क्षुद्र सीमा-धर्म हो सकता है, महान् मानव-धर्म नहीं। मन के कोलाहलमय महासमुद्र का समुत्सुक तरंगांग जो मानव अपने उद्गम को समझ लेता है, वह व्यष्टि में रहकर भी समष्टि और परिखा में परिधि पाकर भी पारावार है। देश को इन्हीं मानवों की आवश्यकता रही है, देश को इन्हीं मानवों ने कुछ दिया है। मन का स्वतत्र रूप देह की सीमा को अतिक्रमण करता है, यहीं सीमा की क्षुद्रता साबित होती रहती है। हर आदमी परदेश में रहकर अपने घर की बात सोचता है, पर देह जड़ पाथेय के साथ ही पथ पूरा कर पाएगी। अपनी भौतिक स्वतंत्रता के अर्जन के लिये स्वतंत्र मन से हम अपने ही घर में बंध स्थापित कर उसके इंगितों को समझ सकते हैं। वहीं, हमें साम्राज्ञी भारतीयता अपने कभी पराधीन न होने की शिक्षा देगी। वह सृष्टि की सबसे बड़ी विभूति, सबसे बड़ी किताब है। सत्य उसी सरस्वती का धर्म-पुत्र है। सत्य स्वतंत्र माता का सदा स्वतंत्र बालक है। उस पर कोई नियंत्रण नहीं। उसके पास एक ही किताब है, उसकी माता। वह

लिखी किताब नहीं पढ़ता। जब पढ़ना चाहता है, तब माता डाँट देती है। समझा देती है। कहती है, बाहर तू भटक जायगा, सब मेरी लिखी हुई किताबें हैं, वहाँ न जा। सत्य नहीं जाता, इसीलिये वह जब चाहता है, माता के साथ मिलकर तदात्म हो जाता है।

मनुष्यों का यही सत्य आदर्श है, तभी वे भारत हैं। यहाँ से विकार के प्रति अश्रद्धा नहीं होती। कृष्ण यहीं महामनुष्य, शुकदेव के रास-रस-विहारी महापुरुष हैं।

रवींद्रनाथ हिंदोस्तानियों के ग़रीब डफली-राग का कवियाने ढंग से मज़ाक़ उड़ाते हुए "खचखचखचांकार" लिखकर अपनी श्री-संपन्नता का परिचय दे सकते हैं, पर वह "खचखचखचांकार" का संबंध जातीय स्वर मीरा, कबीर, सूर और तुलसी की पावन लड़ियों में कितनी निर्मल ज्ञान-धारा बहाता है, यह अगर वह समझते होते, तो अपने अर्थ के साथ काफ़ी वृद्ध होकर "कोंकरकों" वाले "बाउल के स्वर" पर अंत में गला और क़लम न फेरते रहते। शायद बँगला के कवि इस अपने ग़रीब-राग को बँगला की संपत्ति समझकर विश्व की संपत्ति समझते हैं, और पहली को हिंदोस्तानियों की समझकर कर्णकटु विश्व-विरहित! दूसरी बात यह कि जब ग़रीबों को छल या वैभव से शक्तिशाली मुग्ध करता है, तब वे मन-ही-मन कहते हैं कि अगर हम ऐसे होते, तो हम भी तुम्हें ऐसा कर सकते। इसकी ध्वनि कितनी गूढ़, तत्त्व के पर्दे के भीतर होती है! आप किसी को, उसके विकास-पथ की सुविधा कर दीजिए, वह धारा ज़रूर बह चलेगी। जब वह अपने पर्वत-पिता के अतल-स्पर्श में रहती है, तब भी वह निकलने के लिये बार-बार प्रयत्न करती रहती है, और अदृश्य या अल्पदृश्य होने पर भी समुद्र से छोटी नहीं रहती, क्योंकि दृष्टि का सूक्ष्म सूत्र, सूर्य का ताप-तत्त्व या अज्ञान के पत्थर-हृदय के भीतर से शाप के भाप का उसके साथ सहयोग रहता ही है। जहाँ रवींद्रनाथ अपना व्यक्तित्व ब्रह्म-व्यक्तित्व

के साथ एक करते हैं, वहाँ यही सब जातीयता, भिन्नता, संकीर्णताएँ जो उनके देह-संकोच के कारण निकली हैं, निकल-निकलकर दूसरों की तरफ इंगित करती हुई चली जाती हैं। तब पाठकों को कविवर के "कोथा भेसे जाइ दूरे" की याद आ जाती है।

रवींद्रनाथ ब्रह्म को जब सब संपत्ति दे देते हैं, तब सोचते हैं, अब हम निश्चिंत हुए; क्योंकि ग़रीबों की प्रार्थना का बोझ सर से उतर जाता है; तब कुछ मिजाज़ हल्का होता है, और फिर रूप, रस, गंध, स्पर्श में मुक्ति प्राप्त कर संन्यासियों को निरा आदमी समझ, सत् और न्यास के अर्थ से कोई भी तअल्लुक न रख अपनी प्रतिभा के प्रहार से जर्जर करते रहते हैं? जब ऐसे, सब राहों से गुज़रकर ब्रह्म को प्राप्त करने वाले, महाकवि को उनकी ज़मींदारी के लोग घेरकर कहते हैं—"पिताजी, हम लोग तो 'अमृतस्य पुत्राः' हैं, भूखों मरते हैं, कुछ खाने को दो।" तब "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" के अर्थ में नराकार रवि बाबू कहते हैं, मैंने तो लिख दिया है—"यार यतो आछे, सेइ चाय भूरि-भूरि" (जिसके पास जितना है, वही उतना अधिक चाहता है) !!!

मैं कहता हूँ, हे देश, तुम धन्य हो, संन्यासी का अर्थ तुम्हीं समझे, तुम्हारा पुरस्कार वही अर्थ है। तुलसी विधर्मी (शब्दार्थ पर ज़ोर) बादशाह (भ्रम बादशाह के भाव पर) के पास नहीं गए, राम के पास गए, जो पिता की मुक्ति के लिये वन गए, जिन्होंने पत्नी की मुक्ति के लिये राक्षस कुल का नाश किया, प्रजा-रंजन के लिये आसन्नप्रसवा प्रियतमा का परित्याग किया। रवींद्रनाथ संसार के एक महामनीषी, कदाचित् सबसे अधिक सम्मान-प्राप्त मनुष्य हैं। तुलसी महाकठिन होकर भी घर-घर अत्यंत सरल महाकवि हैं, रवींद्रनाथ सदा कोमल-कठिन, विद्वानों के आश्चर्य के विषय, उदग्रीव कर रखने वाले महाकवि।

महामनीषा जब किसी व्यक्ति-विशेष के भीतर जाग्रत होती है, तब उसके अनेक कारण जागरण के उपादान के रूप उपस्थित करते हैं। उन्हीं से सीमा अछोर असीम में स्थिति पाती है, और प्रकट शक्ति अप्रकट के वर्ण- ंध से हवा के हिल्लोलों पर काँपते हुए कल्पना के कमल को चूमती रहती है। उसको एक-एक दल विकसित हो सहस्रदल कर देते हैं, इसी तरह की मुक्ति मनुष्य की मुक्ति है।

पर जब किसी दूसरे ही तड़ाग के प्रति खिले हुए कमलों को देखकर मनुष्य धावमान होता रहता है, तब भीतर की सृजन-साधना आँखें मूँद लेती है। कारण, वह अपने से अधिक सुन्दर किसी दूसरी को नहीं मानती, तब मनुष्य मोहाँध कहलाता है। हिंदी की पारिपार्श्विक शक्तियों का स्फुट रूप कभी हिंदी की पूर्णता का परिचित विकास नहीं बन सकता। मैंने अनेक बार लिखा है, कार्लाइल और रस्किन, शेली या रवींद्रनाथ हिंदी के लिये गौरव की वस्तु नहीं बन सकते। उनकी अनुवादित भावनाएँ दूसरी जगह के खिले हुए फूलों को लाते-लाते मुरझाने की तरह, हिंदी में निष्प्रभ हैं। विकास अपने ही भीतर का विकास है, और वही विश्व-विकास है। किसी-किसी साहित्यिक ने देश के ठक्कुरों को छोड़कर विदेश के कुक्कुरों की पूँछ बुरी तरह पकड़ी है। पर पूँछ जिसकी है, वह उसी के साथ रहती है, यह भूल गए। बदले में देश-द्रोह लेकर स्वदेश लौटे। बात यह कि पेट में जब तक दीनता पिल्ले कूँ-कूँ करते रहेंगे, मनुष्य को अपनी पहचान अपने आप न होगी, वह किसी ऊँची बात का अर्थ नहीं समझ सकता।

पंतजी और पल्लव

गत वर्ष, वसंत के पुष्प-पत्र के अंतिम ऐश्वर्य-काल में, मित्रवर हिंदी के कोमल किशोर कवि श्रीयुत् सुमित्रानंदन पंत के 'पल्लव' को मनोहर विकसित देखकर हार्दिक प्रसन्नता हुई थी। हिंदी के झंखाड़ में 'पल्लव' का फूटकर निकलना स्वाभाविक हर्ष का कारण है भी।

उस समय जब 'पल्लव' प्रेस की गैलियों की सघन प्रलंब डालियों के भीतर Projection of Nature का Problem solve कर रहा था, पंतजी के पत्र से प्रेस के कृष्णाकृति विशाल-वपु 'कलौ भीम-भयंकराः' भूतों के निष्करुण-पीड़न, विश्लेषण-पेषण, धर्षण-घर्षण आदि से किए गए अनर्गल अत्याचारों की कल्पना मैंने कर ली थी, तथा शीघ्र ही 'पल्लव' को यांत्रिक यंत्रणा से मुक्ति देने के लिये मन-ही-मन प्रार्थना भी परमात्मा से यथेष्ट की थी। परंतु कुछ महीनों के बाद 'पल्लव' के संबंध में विचार करते हुए परमात्मा की निर्दयता से मुझे विचलित हो जाना पड़ा। उनके प्रति जो क्षण-मात्र का विश्वास मैंने किया था, वह क्षण-मात्र में उठ भी गया; कारण, तब तक प्रसूत 'पल्लव' पंतजी द्वारा प्रेरित होकर मुझे प्राप्त न हुआ था। जिस समय परमात्मा से मेरा असहयोग चल रहा था, मेरे एक मित्र ने आकर कहा, पंडितजी, 'पल्लव' तो प्रकाशित हो गया, कल मैं एक प्रति खरीदकर आपको दूँगा। अवश्य उस समय पंतजी की मित्रता की बानगी, पल्लव की एक प्रति उनसे न मिलने के कारण, उन्हें मैं 'यन्न व्येति तदव्ययम्' ही कर रहा था। दूसरे दिन मित्र ने 'पल्लव' की एक प्रति खरीदकर मुझे दी। आलस्यमयी भावनाओं का जाल समेटकर केंद्रीकृत स्थिर बुद्धि से मैं उसे पढ़ने लगा। उसके 'विज्ञापन' तथा 'प्रवेश'-भाग में पंतजी की सार्वभौमिकता के गज

से कविता-कामिनी का शयन-जीर्ण प्राचीन कंथा नपा हुआ तथा उनकी 'प्रतिभा के बछड़े' के हुत्थे से कवि-समुदाय को पलायन-पंथा पर श्वासावरुद्ध भागता हुआ देखकर बड़ा आनंद आया, जैसे क्षण-मात्र में किसी ने 'पुंगव' को 'पोंगा' कर दिया। दूसरे, कवि को ही टीकाकार के आसन पर देखकर मुझे विश्वास हो गया कि आजकल की दवाओं के विज्ञापक वस्तु-प्रसिद्धि के कौशल-ज्ञान से बिल्कुल ही कोरे हैं। एक बार साद्यंत पढ़कर मैं अपने पूर्व भावों पर विचार करने लगा। जब एक दिन 'पल्लव' के लिये निश्छल सहृदयता का स्रोत हृदय के उभय कूलों को प्लावित कर बहा था, उस समय अवश्य पल्लव के पल्लव में मृत अतीत के साहित्य-महारथियों को डुबाने की पंतजी की चेष्टा पर कभी मुझे विचार करने का अवसर नहीं मिला, न मैं इस तरह का विचार कर सकता था। इस तरह की चेष्टा यदि सत्य की दृष्टि से निष्पाप सिद्ध होती, तो विशेष कुछ लिखने या कहने का अवसर न मिलता, उनके पुष्ट प्रमाण उस सत्य की रक्षा करते। केवल पद-समता के कारण मंडूक की तरह साँस फुलाकर हस्तिकाय कहलाने की चेष्टा पंतजी को न करनी थी। मंडूक की तरह पंतजी पद-लघुता और पद-गुरुता के ज्ञान से विवर्जित नहीं। 'पल्लव' की छाया में जो मुझे भी ताप से शीतल करने की पंतजी ने सहृदयता दिखलाई है, और अपने इस उपकार का कहीं उल्लेख भी अपने प्रेरित पत्र में नहीं आने दिया, उस समय मुझे मालूम न था कि इसके लिये कभी छापे के अक्षरों में धन्यवाद देने की मुझे आवश्यकता पड़ेगी। 'पल्लव' के 'प्रवेश' भाग में कविता, व्रजभाषा, खड़ी बोली, अतीत के कवि, कवित्त, स्वच्छंद छंद, बंगला की कविता, निराला के छंद, शब्दों के रूप-राग, स्वर आदि जिन अनेक विषयों को नवाविष्कृत वैज्ञानिक सत्य की हैसियत से हिंदी के दरिद्र भाँडार में लाने की पंतजी ने चेष्टा की है, उनकी अलग-अलग समालोचना

करने के पहले मैं एक वह विषय उठा रहा हूँ, जिसकी कहीं चर्चा भी 'प्रवेश' के ५४ पृष्ठों में उन्होंने नहीं की।

इस विषय का उन्हीं से घनिष्ट संबंध है। अपनी कविता की कारीगरी की व्याख्या तो उन्होंने येन-केन-प्रकारेण अच्छी ही की है, परन्तु इस कारीगरी का साँचा उन्हें कहाँ मिला, किस तरह वह अपने लिये इतने अच्छे कवि हो गए; कविता पर वह राजनीति-क्षेत्र के वर्तमान नेताओं की तरह कोई जन्मसिद्ध अधिकार रखते हैं या नहीं, इस तरह के आवश्यक विषयों को उन्होंने प्रच्छन्न ही छोड़ रक्खा है। पहले इन अव्यक्त विषयों पर ही मैं प्रकाश डालने की चेष्टा करूंगा! पंतजी की कविता-कामिनी के लाड़ले भाव-त्रिशंकु को साहित्य के नभमंडल में गति-रहित निराधार ही छोड़ रखना अनुचित सा प्रतीत हो रहा है।

महर्षियों ने दर्शनों से विश्व को जो सत्य दिया, वह कभी बदलता नहीं। वह काल से अभेद तथा भिन्न भी है, इसलिये अमर और अक्षय है। वह न पुरुष है, न स्त्री, इसलिये उसे 'तत्सत्' कहा। वह आजकल की विश्व-भावना, विवश-मैत्री आदि कल्पना-कलुषित बुद्धि से दूर, वाणी और मन की पहुँच से बाहर है, जड़ की सहायता से वह अपनी व्याख्या नहीं कराना चाहता, इस तरह उसमें जड़त्व का दोष आ जाता है, वह स्वयं ही प्रकाशमान् है—बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना; कर बिनु कर्म करै विधि नाना—आदि-आदि से कर्ता भी वही है, जड़ में कर्म करने की शक्ति कहाँ? मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को शास्त्रकारों ने जड़ कहा है, क्योंकि वे पंचभूतों के जड़पिंड का आश्रय लिये हुए हैं, और मृत्यु होने पर कारण-शरीर में तन्मय रहते हैं—इन्हें लिंग-ज्ञान भी है—इस तरह जड़त्व-वर्जित न होने के कारण इन्हें भी, ब्रह्म से बहिर्गत कर, जड़ कहा है, यद्यपि ब्रह्म के प्रकाश को पाकर ही ये क्रिया-शील होते हैं। कुछ हो, ये सब यंत्र ही हैं, कर्ता वही है, और उसके कर्तृत्व का एकाधिकार समझकर ही उसे 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू' कहा है।

इस तरह कवि भी ब्रह्म ही सिद्ध होता है, जड़ शरीर से ध्यान छूट जाता, जड़ शरीरवाले कवि की आत्मा दिखाई पड़ती है। इसकी स्पष्ट व्याख्या इस तरह होगी—जैसे बालक पंतजी में कविता करने की शक्ति न थी, शक्ति का विकास हो रहा था, न मन में सोचने की शक्ति थी, न अंगों में संचालन-क्रिया की, धीरे-धीरे, शक्ति के विकास के साथ ही साथ, जिस जाति और वंश में वह पैदा हुए—उनके संस्कारों को लिये हुये वह बढ़ने लगे, अपने व्यक्तित्व पर ज़ोर देकर बड़े होने लगे। उन्हें अपनी रुचि का अनुभव हुआ; इस तरह चेतन और जड़ का मिश्रित प्रवाह उनके भीतर से अपनी सत्ता को संसार की अनेक सत्ताओं से विश्लिष्ट कर बहने लगा। एक दिन उन्हें मालूम हुआ, उनकी रुचि कविता पर अधिक है। यहाँ इस रुचि को पकड़िए, यह जहाँ से आई है वह ब्रह्म है जहाँ अब उनकी बाह्य शिक्षा ठहरेगी—जिस तरह से वह भविष्य में कवि होंगे; वह केंद्र भी ब्रह्म हो है; जीवात्मा का संयोग लिये हुए। इस तरह भारतीयों ने ब्रह्म को ही कवि स्वीकार किया है। यह रुचि या इच्छा क्यों पैदा होती है, इसका कारण अभी तक नहीं बतलाया जा सका, यहाँ भारतीय शास्त्र मौन है, और है भी यही यथार्थ उत्तर क्योंकि जब एक के सिवा दूसरा है ही नहीं तब उस एक की रुचि का कारण कौन बतलाए, इसलिये ही कहा है, नमक का पुतला समुद्र की था लेने के लिये जाकर गल गया, खबर देने के लिये न लौटा।

अस्तु। इस तरह पंतजी की आत्मा में कवि होने की—सृष्टि की रुचि का कारण नहीं बतलाया जा सकता; परन्तु रुचि हुई अवश्य उस ब्रह्मरूपी पंतजी की अनादि सत्ता में और कविता की कारीगरी, अक्षरों, शब्दों और भावों के चित्रों को ब्रह्म की शक्ति, माया धारण करने लगी, प्रकृति में अनेक प्रकार की छायाएँ पड़ने लगीं। स्मृतियाँ यही हैं अनेक वस्तुओं की, अनेक भावों की। जड़ की ही स्मृति होती इन स्मृतियों को जिस तरह पहले प्रकृति धारण करती है, उसी तरह

फिर निकालती भी है। बच्चे को 'क' सिखाइये, जब लिखकर 'क' के चित्र की धारणा वह कर लेगा, प्रकृति में 'क' की छाया पड़ जायगी, स्मृति दुरुस्त हो जायगी, तभी वह आप-से-आप 'क' लिख सकेगा।

पंतजी के पल्लव में इतनी ही कमी है। उन्होंने अपनी शिक्षा पर पर्दा डाला है। किस तरह, कहाँ-कहाँ से, छाया-चित्रों को उनकी प्रकृति ने ग्रहण किया है, उन्होंने नहीं लिखा। यह शायद इसलिये कि इससे महत्ता घट जायगी, लोग समादर कम करेंगे। दूसरों की आंखों में धूल झोंककर, दूसरों को दबाकर बड़े होने की आदत पश्चिम की ही शिक्षा से मिलती है, यहाँ तो पहले ही बाबा आदम को बात सुझाकर शिष्य को सत्य ब्रह्म का यंत्र बना देते हैं, उसके अहंकार की क्षुद्र सीमा को तोड़ कर उसमें पूर्णत्व भर देते हैं, उसे यंत्र बनाकर कर्ता और शिष्य बनाकर गुरु कर देते हैं, जड़त्व लेकर चेतना और ममत्व लेकर प्रेम देते हैं। वह अंध योरप की तरह नहीं होता, लक्ष्य-भ्रष्ट ग्रह की तरह उसकी गति अनियंत्रित नहीं होती।

यद्यपि अपनी शिक्षा का हाल पंतजी ने नहीं लिखा, छिपा रक्खा है, तथापि एक जिज्ञासु दार्शनिक को वह धोखा नहीं दे सके—

"गंध मुग्ध हो अंध-समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार"
—पंतजी

"तोमार मदिर गंध अंध वायु बहे चारिभिते"
—रवींद्रनाथ

"................अतल के
बतलातीं जो भेद अपार"
—पंतजी

"अतल रहस्य येन चाय बलिबारे"
—रवींद्रनाथ

"नीरव-घोष-भरे शंखों में"

—पंतजी

"नीरव सुरेर शंख बाजे"

—रवींद्रनाथ

"मेरे आँसू गूँथ"

—पंतजी

"गेंथेछि अश्रुमालिका"

—रवींद्रनाथ

"शस्यशून्य वसुधा का अंचल"

—पंतजी

"शस्यशीर्ष शिहरिया काँपि उठे धरार अंचल"

—रवींद्रनाथ

"शस्यशीर्षराशि धरार अंचलतल भरि"

—रवींद्रनाथ

"विपुल-वासना-विकच विश्व का मानस शतदल"

—पंतजी

"........विकसित विश्व वासनार
अरविंद........................."

—रवींद्रनाथ

"आलोड़ित अंबुधि फेनोन्नत कर शत-शत फन,
मुग्ध भुजंगम सा इंगित पर करता नर्तन।"

—पंतजी

"तरंगित महासिंधु मंत्रशांत भुजंगेर मत
पड़ेछिल पदप्रांते उच्छ्वसित फणा लक्ष शत
करि अवनत"

—रवींद्रनाथ

"गाओ, गाओ, विहग-बालिके,
तरुवर से मृदु मंगल-गान"

—पंतजी

Then, sing ye birds, sing, sing a joyous song.

Wordsworth.

उदाहरण के लिये इससे अधिक की आवश्यकता न होगी। कहीं-कहीं जो थोड़ा-सा रूपांतर पंतजी ने किया है, वह केवल अपने छंद की सुविधा के लिये। पंतजी चौर्य-कला में निपुण हैं। वह कभी एक पंक्ति से अधिक का लोभ नहीं करते। एक पंक्ति किसी एक कविता से ली, दूसरी किसी दूसरी कविता से, तीसरी में कुछ अपना हिस्सा मिलाया, चौथी में तुक मिलाने के लिये वैसा ही कुछ गढ़कर बैठा दिया। इस तरह की सफ़ाई के पकड़ने में समालोचकों को बड़ी दिक्कत होती है। उधर कवि को अपनी मौलिकता की विज्ञापनबाज़ी करने में कोई भय भी नहीं रहता। रवींद्रनाथ की 'उर्वशी' कविता के चार उदाहरण मैंने उद्धृत किए हैं, जो नंबर १, ५, ६, और ७ में आए हैं। उनमें पहला और पाँचवाँ उदाहरण पंतजी की 'अनंग' कविता में है और छठा, सातवाँ उदाहरण उनकी 'परिवर्तन' कविता में।

दूसरे के भाव लेकर प्रायः सब कवियों ने कविताएँ लिखी है। परन्तु वहाँ हर एक कवि ने दूसरे के भाव पर विजय प्राप्त करने की, उससे बढ़कर अपना कोई विशेष चमत्कार दिखलाने की, चेष्टा की है। पंतजी में यह बात बहुत कम है। कहीं-कहीं तो दूसरे के भावों को बदल कर, उसमें कुछ अपना हिस्सा मिलाकर चमत्कार दिखलाने में इन्हें अच्छी सफलता हुई है, परंतु आधिकाँश स्थलों में सुंदर-सुंदर भावों को इन्होंने बड़ी बुरी तरह नष्ट कर डाला है। यह केवल

इसलिये कि यह भावों के सौंदर्य पर उतना ध्यान नहीं देते, जितना शब्दों के सौंदर्य पर।

एक उदाहरण लीजिए—

"आपन रूपेर राशे
आपनि लुकाए हासे"

—रवींद्रनाथ

"रूप का राशि राशि वह रास
दृगों को यमुना श्याम"

—पंतजी

पंतजी की प्रथम पंक्ति रवींद्रनाथ की ही पंक्ति से ली गई जान पड़ती है, परंतु केवल शब्द-साम्य ही वह अपना सके हैं, भाव-सौंदर्य की छाया भी नहीं छू सके। रवींद्रनाथ की दोनों पंक्तियाँ परस्पर संबद्ध हैं, पंतजी की दोनो पंक्तियाँ एक दूसरे से अलग। यह दोष पंतजी की तमाम कविताओं में है, और वह केवल इसलिये कि वह पंक्ति-चोर हैं, भाव-भंडार के लूटने वाले डाकू नहीं। छकने के लिये एक चुल्लू से ज्यादा नहीं चाहते, शायद हज्म न कर सकने का खौफ़ करते हैं, रवींद्रनाथ की पंक्तियों का भाव—"अपने रूप की राशि में आप छिपकर हँसती है—" इन पंक्तियों में सुंदरी नायिका का कितना सरस भाव है! अर्थ से आदि रस का निष्कलुष परम सुंदर चित्र आँखों के सामने आता है। उधर पंतजी की "रूप का राशि राशि वह रास—" कुछ शब्दों के कलरव के सिवा और कोई अर्थ-पुष्ट मनोहर चित्र सामने नहीं रखती। यदि हम यह कल्पना करें कि अनेक रूपवती गोपिकाएँ कृष्ण के साथ रास में रूप की सुधा पान कर रही हैं, तो ऐसी कल्पना हम क्यों करें? उनकी पंक्ति में

तो इतनी गुंजायश ही नहीं है। और थोड़ी देर के लिये यदि इस तरह की कोई कल्पना कर भी ली जाय तो दूसरी पंक्ति का अर्थ इसका विरोधी खड़ा हो जाता है—"दृगों की यमुना श्याम" इसमें दुःख है, जो 'रूप के रास" से वैर करने लगा है। यदि दृगों को ही यमुना मान लें तो भी अर्थ-सिद्धि नहीं होती क्योंकि दृगों के भीतर से तो बाहर रूप-राशि देखी जा सकती है, पर यमुना के भीतर से कृष्ण-गोपियों की रूप राशि न देखी गई थी। शब्दों के सार्थक संगठन से जो भाव तैयार होता है उसे भी शब्द-चित्र की तरह दोष-रहित होना चाहिए।

एक उदाहरण और—

"नवोढ़ा बाल लहर, अचानक उपकूलों के,
प्रसूनों के ढिंग रुककर, सरकती है सत्वर।"

—पंतजी

पल्लव के प्रवेश में हम लोगों के समझने के लिये पंतजी ने अपनी इन पंक्तियों की व्याख्या भी कर दी है। मेरी समझ में यह भाव पंतजी का नहीं, यह भी रवींद्रनाथ ही का है। पहले की तरह कुछ परिवर्तन करके इसकी भी पंतजी ने वैसी ही हत्या की है—

'श्यामल आमार दुइटी कूल,
माझे माझे ताहे फूटिवे फुल।
खेला छले काछे आसिया लहरी
चकिते चुमिया पलाए जाबे।"

—रवींद्रनाथ

कितने सुंदर भाव की हत्या की गई है! पंतजी ने लिया है इन्हीं इतनी पंक्तियों का भाव, परंतु रवींद्रनाथ की सौंदर्य की

इसलिये कि यह भावों के सौंदर्य पर उतना ध्यान नहीं देते, जितना शब्दों के सौंदर्य पर।

एक उदाहरण लीजिए—

"आपन रूपेर राशे
आपनि लुकाए हासे"

—रवींद्रनाथ

"रूप का राशि राशि वह रास
दृगों को यमुना श्याम"

—पंतजी

पंतजी की प्रथम पंक्ति रवींद्रनाथ की ही पंक्ति से ली गई जान पड़ती है, परंतु केवल शब्द-साम्य ही वह अपना सके हैं, भाव-सौंदर्य की छाया भी नहीं छू सके। रवींद्रनाथ की दोनों पंक्तियाँ परस्पर संबद्ध हैं, पंतजी की दोनो पंक्तियाँ एक दूसरे से अलग। यह दोष पंतजी की तमाम कविताओं में है, और वह केवल इसलिये कि वह पंक्ति-चोर हैं, भाव-भंडार के लूटने वाले डाकू नहीं। छकने के लिये एक चुल्लू से ज्यादा नहीं चाहते, शायद हज्म न कर सकने का खौफ़ करते हैं, रवींद्रनाथ की पंक्तियों का भाव—"अपने रूप की राशि में आप छिपकर हँसती है—" इन पंक्तियों में सुंदरी नायिका का कितना सरस भाव है! अर्थ से आदि रस का निष्कलुष परम सुंदर चित्र आँखों के सामने आता है। उधर पंतजी की "रूप का राशि राशि वह रास—" कुछ शब्दों के कलरव के सिवा और कोई अर्थ-पुष्ट मनोहर चित्र सामने नहीं रखती। यदि हम यह कल्पना करें कि अनेक रूपवती गोपिकाएँ कृष्ण के साथ रास में रूप की सुधा पान कर रही हैं, तो ऐसी कल्पना हम क्यों करें? उनकी पंक्ति में

'तो इतनी गुंजायश ही नहीं है। और थोड़ी देर के लिये यदि इस तरह की कोई कल्पना कर भी ली जाय तो दूसरी पंक्ति का अर्थ इसका विरोधी खड़ा हो जाता है—"दृगों की यमुना श्याम" इसमें दुःख है, जो 'रूप के रास" से वैर करने लगा है। यदि दृगों को ही यमुना मान लें तो भी अर्थ-सिद्धि नहीं होती क्योंकि दृगों के भीतर से तो बाहर रूप-राशि देखी जा सकती है, पर यमुना के भीतर से कृष्ण-गोपियों की रूप राशि न देखी गई थी। शब्दों के सार्थक संगठन से जो भाव तैयार होता है उसे भी शब्द-चित्र की तरह दोष-रहित होना चाहिए।

एक उदाहरण और—

"नवोढ़ा बाल लहर, अचानक उपकूलोंके,
प्रसूनों के ढिंग रुककर, सरकती है सत्वर।"

—पंतजी

पल्लव के प्रवेश में हम लोगों के समझने के लिये पंतजी ने अपनी इन पंक्तियों की व्याख्या भी कर दी है। मेरी समझ में यह भाव पंतजी का नहीं, यह भी रवींद्रनाथ ही का है। पहले की तरह कुछ परिवर्तन करके इसकी भी पंतजी ने वैसी ही हत्या की है—

'श्यामल आमार दुइटी कूल,
माझे माझे ताहे फूटिबे फुल।
खेला छले काछे आसिया लहरी
चकिते चुमिया पलाए जाबे।"

—रवींद्रनाथ

कितने सुंदर भाव की हत्या की गई है! पंतजी ने लिया है इन्हीं इतनी पंक्तियों का भाव, परंतु रवींद्रनाथ की सौंदर्य की

इसलिये कि यह भावों के सौंदर्य पर उतना ध्यान नहीं देते, जितना शब्दों के सौंदर्य पर।

एक उदाहरण लीजिए—

"आपन रूपेर राशे
आपनि लुकाए हासे"

—रवींद्रनाथ

"रूप का राशि राशि वह रास
दृगों को यमुना श्याम"

—पंतजी

पंतजी की प्रथम पंक्ति रवींद्रनाथ की ही पंक्ति से ली गई जान पड़ती है, परंतु केवल शब्द-साम्य ही वह अपना सके हैं, भाव-सौंदर्य की छाया भी नहीं छू सके। रवींद्रनाथ की दोनों पंक्तियाँ परस्पर संबद्ध हैं, पंतजी की दोनो पंक्तियाँ एक दूसरे से अलग। यह दोष पंतजी की तमाम कविताओं में है, और यह केवल इसलिये कि वह पंक्ति-चोर हैं, भाव-भंडार के लूटने वाले डाकू नहीं। छकने के लिये एक चुल्लू से ज्यादा नहीं चाहते, शायद हज्म न कर सकने का खौफ़ करते हैं, रवींद्रनाथ की पंक्तियों का भाव—"अपने रूप की राशि में आप छिपकर हँसती है—" इन पंक्तियों में सुंदरी नायिका का कितना सरस भाव है! अर्थ से आदि रस का निष्कलुष परम सुंदर चित्र आँखों के सामने आता है। उधर पंतजी की "रूप का राशि राशि वह रास—" पंक्ति कुछ शब्दों के कलरव के सिवा और कोई अर्थ-पुष्ट मनोहर चित्र सामने नहीं रखती। यदि हम यह कल्पना करें कि अनेक रूपवती गोपिकाएँ कृष्ण के साथ रास में रूप की सुधा पान कर रही हैं, तो ऐसी कल्पना हम क्यों करें? उनकी पंक्ति में

तो इतनी गुंजायश ही नहीं है। और थोड़ी देर के लिये यदि इस तरह की कोई कल्पना कर भी ली जाय तो दूसरी पंक्ति का अर्थ इसका विरोधी खड़ा हो जाता है—"दृगों की यमुना श्याम" इसमें दुःख है, जो 'रूप के रास" से वैर करने लगा है। यदि दृगों को ही यमुना मान लें तो भी अर्थ-सिद्धि नहीं होती क्योंकि दृगों के भीतर से तो बाहर रुप-राशि देखी जा सकती है, पर यमुना के भीतर से कृष्ण-गोपियों की रूप राशि न देखी गई थी। शब्दों के सार्थक सगठन से जो भाव तैयार होता है उसे भी शब्द-चित्र की तरह दोष-रहित होना चाहिए।

एक उदाहरण और—

"नवोढ़ा वाल लहर, अचानक उपकूलोंके,
प्रसूनों के ढिंग रुककर, सरकती है सत्वर।"

—पंतजी

पल्लव के प्रवेश में हम लोगों के समझने के लिये पंतजी ने अपनी इन पंक्तियों की व्याख्या भी कर दी है। मेरी समझ में यह भाव पंतजी का नहीं, यह भी रवींद्रनाथ ही का है। पहले की तरह कुछ परिवर्तन करके इसकी भी पंतजी ने वैसी ही हत्या की है—

'श्यामल आमार दुइटी कूल,
माझे माझे ताहे फूटिवे फुल।
खेला छले काछे आसिया लहरी
चकिते चुमिया पलाए जाबे।"

—रवींद्रनाथ

कितने सुंदर भाव की हत्या की गई है! पंतजी ने लिया है इन्हीं इतनी पंक्तियों का भाव, परंतु रवींद्रनाथ की सौंदर्य की

अप्सरा कुछ और नवीन नृत्य दिखलाती है, अभी पूर्वोक्त पद्य अधूरा है। वह अंतिम अंश इस प्रकार है—

"शरम-विमला कुसुम-रमणी
फिरावे आनन शिहरि अमनि,
आवेशेते शेषे अवश होइया
खसिया पड़िया जावे,
भेसे गिए शेषे काँदिवे हाय,
किनारा कोथाय पावे !"

—रवींद्रनाथ

पंतजी की पंक्तियों का अर्थ बिलकुल साफ़ है, यहाँ तक कि पद्य की लड़ियों को बराबर कर लीजिए, गद्य बन जायगा, कहीं परिवर्तन करने की जरुरत न होगी। पंतजी की नवोढ़ा बाल लहर के अचानक उपकूलों के ढिंग रुककर सरकने में कोई विशेष भाव सौंदर्य मुझे नहीं मिला, परंतु जहाँ से यह भाव लिया गया है, रवींद्रनाथ की उन पंक्तियों में अवश्य सौंदर्य की उभय-कूल-प्लाविनी सरिता बह रही है। रवींद्रनाथ की प्रथम चार पंक्तियों का अर्थ—

"मेरे दोनो श्यामल कूलों में जगह-जगह पुष्प विकसित होंगे, और क्रीड़ा के छल से लहरियाँ पास आ अचानक चूम-कर भग जायँगी।"

एक तो पंतजी के छंद के छोटे-से घेरे में ये कुल भाव आ ही नहीं सके, दूसरे, मौलिक प्रतिभा के प्रदर्शन और छंद की रक्षा के लिये कुछ शब्दों को विवश होकर उन्होंने बदल दिया है, जैसे रवींद्रनाथ की लहर फूल को अचानक चूमकर भागती है, और पंतजी की लहर अचानक प्रसूनों के ढिंग रुककर सत्वर सरकती है। अवश्य ही रवींद्रनाथ के 'पलाए जाबे' का शब्द-चित्र पंतजी ने 'सत्वर सरकती' से प्रकट किया है, 'सत्वर' शब्द के बढ़ने पर भी पंतजी की लहर

'पलाए जावे' का धुल चंचल सौंदर्य नहीं पा सकी। 'सरकती' के 'सर' अंश से लहर के चलने का आभास मिलता है, परंतु अंतिम 'कती' अंश उसके कुछ बढ़ने के पश्चात् उसे पकड़कर रोक लेता है, जिससे Additional (संयुक्त) 'सत्वर' भी उसे उसके स्थान से हिला नहीं सकता, बल्कि खुद ही कुछ दूर बढ़ता चला जाता है। यहाँ के शब्द-चित्र से हास्य-रस की अवतारणा हुई है, जैसे 'सरकती' से लहर कुछ चलकर रुक गई हो, और सत्वर उसे घसीटने की चेष्टा कर (हाथ-संबंध) छूट जाने के कारण, खुद ही कुछ दूर पर रपटता हुआ ढेर हो गया हो। दूसरे, 'सरकने' का मुहावरा भी बहुत दूर तक चलने का नहीं, 'कुछ हटना, फिर स्थिति' जोंक की चाल की तरह है। रवींद्रनाथ अपनी लहर के आने का कारण बतलाते हैं 'खेला-छले', और इससे सरल-सौंदर्य शिशु के हास्य की तरह प्रदीप्त हो उठता है। पंतजी ने अपनी लहर के आने का कोई कारण नहीं बतलाया, शायद छंद के छोटे-से कमरे में इतने शब्दों को जगह नहीं मिल सकी। रवींद्रनाथ के छंद में जो सुखद प्रवाह मिलता है, पढ़ने में जिस तरह के आराम की अनुभूति होती है, वे बातें पंतजी के छंद में नहीं। रवींद्रनाथ के शब्दों में कर्कशता नहीं, पंतजी के शब्द छंद की जीर्ण शाखा के सूखे हुए पत्ते ही रहे हैं।

दूसरे, संपूर्ण भाव को न अपनाने के कारण, सौंदर्य के शिशु को ही पंतजी ने छोड़ दिया है। वास्तव में लोकोत्तरानंद रवींद्रनाथ की पूर्वोक्त पंक्तियों के बाद मिलता है। पीछे इन पंक्तियों का भी उद्धरण दिया जा चुका है।

प्रकृति की एक साधारण-सी बात पर कवि की कल्पना में कितनी सुकुमारता आ सकती है, रवींद्रनाथ की पंक्तियों से बहुत ही स्पष्ट परिचय मिल रहा है। "नदी की लहर तट की पुष्पित डाल के पुष्प को

स्पर्श कर बहती चली जाती है।" इस पर कवि लहर की सजीवता, उसके आने का कारण क्रीड़ाच्छल, स्पर्श से पुष्प को चूमना और स्वभाव से लहर की प्रकृतिसिद्ध पलायन-चंचलता दिखलाकर प्राकृतिक सत्य को कल्पना से सजीव कर देता है। और, इसके पश्चात्, फूल की तरुणी कामिनी का हाल लिखकर आदिरस को वेदांत के लोकोत्तरानंद में ले जाकर परिसमाप्त करता है। बाद के अंश का प्राकृतिक सत्य यह है—"लहर के छू जाने पर डाली और फूल हिलते हैं, फिर कली खुलकर नदी में गिर जाती है।" पहले कहा जा चुका है कि फूल को चूमकर लहर भग गई। वहाँ वह पुष्प पुरुष-पुष्प था। पुरुष-पुष्प को चंचला नायिका के चूमकर भग जाने के पश्चात् दूसरी कली को, जो चूमी न गई थी, कवि फूल की तरुणी कामिनी कल्पना कर उसकी लज्जा, कंपन, स्खलन और बहकर असीम में मिलने के अंकन-सौंदर्य से कविता में स्वर्गीय विभूति भर देता है।

"शरम-विमला कुसुम-रमणी"

"शर्म से कुसुम-कामिनी व्याकुल है", इसलिये कि अभिसारिका उसके प्रेमी को चूमकर चली जा रही है—

"फिराबे आनन शिहरि अमनि"

'शिहरि'=काँपकर (यह कंपन प्राकृतिक सत्य से, लहर के छू जाने पर डाली के साथ फूल के काँप उठने से लिया गया है) तत्काल वह मुँह फेर लेगी। (प्रेमिका का मान, लज्जा, अपने नायक से उदासीनता आदि, मुख फेर लेने के साथ, प्रकट है। उधर डाल के हिलने, हवा के लगने से, कली का एक ओर से दूसरी ओर झुक जाना प्राकृतिक सत्य है, जिस पर यह सार्थक कल्पना का प्रवाह बह रहा है।)—

"आवेशेते शेषे अवश होइया
खसिया पड़िया जाबे।"

"अंत में वह आवेश से शिथिल हो खुलकर गिर जायगी।" (हवा के हिलने से कली का वृंत से च्युत होना प्राकृतिक सत्य है, इसे कल्पना का रूप देकर कवि कहता है, वह पुष्प की तरुणी भार्या आवेश से—भावातिरेक से शिथिल होकर नदी के ऊपर, वक्ष में, गिर जायगी।)—

"भेसे गिए शेषे काँदिबे हाय,
किनारा कोथाय पावे!"

"हाय! वह बहती हुई रोएगी, क्या कहीं उसे किनारा प्राप्त होगा?"

'हाय' और 'कोथाय' के बीच, उत्थान और पतन के स्वर-हिलोर में बहती हुई उस कुसुम-कामिनी को जैसे वास्तव में कहीं किनारा न मिल रहा हो। कामिनी को अकूल में बहाकर कवि अकूलता के साथ-साथ सीमा-रहित आनंद में पाठकों को भी मग्न कर देता है।]

यहाँ एक बात और। रवींद्रनाथ की इन अंतिम पंक्तियों के 'शिहरि' शब्द पर ध्यान रखकर पंतजी की भी उद्धृत इन चार पंक्तियों के बाद का अंश देखिए—

"अकेली-आकुलता-सी प्राण!
कहीं तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश-गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात!"

रवींद्रनाथ की कविता में भाव की लड़ी टूटती नहीं, उनकी कुसुम-कामिनी के सिहरने का कारण आगे बतलाया जा चुका है, परंतु यहाँ पंतजी का ही कृश-गात सिहर उठता है। रवींद्रनाथ की कुसुम-कामिनी असहाय, निस्सीम में बह जाती है, और पंतजी के पैर ठहर जाते हैं! पता नहीं, नवोढ़ा बाल लहर से रुककर सरकने से

पंतजी को इतना कष्ट क्यों होता है । शायद यहाँ भी पाठकों को अपनी तरफ़ से कुछ नई कल्पना करनी पड़े, जैसे लहर का सरकना देखकर कवि को अपनी प्रेयसी की याद आई, मिलना असंभव जान पड़ा, विरह-कृश शरीर सिहर उठा, पैर रुक गए । सौंदर्य के नंदन वसंत में निर्गंध पुष्प ही पंतजी के हाथ लगे। इस विषय पर बहुत ज़्यादा लिखकर प्रसंग से अकारण अलग हो जाना है। पंतजी का एक उदाहरण और—

"सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार"

—पंतजी

"जलद सघन गगन गरजे"

डी० एल्० राय

'तमसाकार' और 'भीम' ये ही दो शब्द पंतजी की पंक्तियों में अधिक हैं, कारण स्पष्ट है, छंद की पूर्ति । तारीफ़ तो यह कि यहाँ, इस भाव में, गुरु और शिष्य दोनो ही प्राकृतिक सत्य से अलग हो रहे हैं, दोनो ही के 'आकाश' गरजते हैं, मेघ गौण हो गया है। परंतु सत्य-चित्र देखिए—मेघ ही गरजते हैं—

"घन घमंड गरजत नभ घोरा"

—तुलसीदास

"गुरु गुरु मेघ गुमरि गुमरि गरजे गगने गगने"

—रवींद्रनाथ

पंतजी की—

"अपने ही अश्रु-जल से सिक्त धीरे-धीरे बहता है।"
"जैसे इसकी क्रीड़ाप्रियता अपने ही परदों में गत बजा रही हो।"
"स्वयं अपनी ही आँखों में बेतुके-से लगते हैं।"
"अपनी ही कंपन में लीन।"
"अपनी ही छवि से विस्मित हो जगती के अपलकलोचन।"

"चारु नभचरी-सी वय-हीन अपनी ही मृदु-छवि में लीन" आदि।

इस तरह की 'अपनी ही' पर जोर देकर सौंदर्य की अभिव्यक्ति पर इतरानेवाली पंक्तियाँ भी मौलिकता की दीप-मालिका में उधार के तेल की रोशनी से प्रदीप्त हो रही हैं—'अपने ही' या 'अपनी ही' के प्रवर्तक भी रवींद्रनाथ ही हैं, जिन्होंने इसे अँगरेजी का प्रकाशन-ढंग देखकर ग्रहण किया जान पड़ता है। रवींद्रनाथ के उदाहरण—

"आपनाते आपनि विजन,"

"आपन जगते आपनि आछिस एकटी रोगेर मत,"

"आंधार लाइया हताश होइया आपने आपनि मिशे,"

"मलिन अपना पाने,"

"आपनार स्नेहे कातर बचन कहिछ आपन काने," आदि-आदि।

पंतजी की कविता में पंखों की फड़क प्रायः सुनाई पड़ती है। जैसे—

"अपने छाया के पंखों में,"

"फड़का अपार पारद के पर"

"पंख फड़काना नहीं थे जानते," आदि।

अँगरेजी-साहित्य से इस भाव की भी आमदनी हुई है। बंगाल के कवि इसे अनेक तरह से प्रकट कर चुके हैं—

"आयरे वसंत, ओ तोर किरण माखा पाखा तुले"

—डी० एल० राय

"आंधार रजनी आसिवे एखनि मेलिया पाखा"

—रवींद्रनाथ

"अति धीरे-धीरे उठिवे आकाशे लघु पाखा मेलि"

—रवींद्रनाथ

"थर-थर करि काँपिवे पाखा"

—रवींद्रनाथ

जगह ज्यादा घिर जाने के भय से अँगरेज़ कवियों के उद्धरण मैं न दे सका। और, यहाँ उद्धरण के लिये मेरे पास साधन भी कम हैं। देहात है, आवश्यक पुस्तकें यहाँ नहीं मिलतीं, स्मरण और कुछ ही पुस्तकों की सहायता से मित्रों के आग्रह की पूर्ति कर रहा हूँ। पंत का भाव लेकर पंत-प्रधान वाक्य में कुछ परिवर्तन कर देने पर भी कवि-कल्पना का मौलिक श्रेय प्राप्त नहीं कर सकता, और इस दृष्टि से प्रायः सब कवियों को उधार लेना पड़ा है, इसका विस्तृत विवेचन इस समालोचना के अंतिम अंश में करूँगा। उदाहरणार्थ शेली का—

"Sungirt city,Thou hast been Ocean's child."—

पेश करता हूँ। कविवर रवींद्रनाथ ने अपनी एक कविता में, जिसका उद्धरण मैं पुस्तक के अभाव से न दे सका, पृथ्वी को समुद्र की कन्या कल्पना कर बहुत कुछ लिखा है। उनकी कविता में समुद्र-माता बाँह फैलाकर आती, अपनी कन्या पृथ्वी को चूमती तथा अनेक प्रकार से आदर करती है। 'माता-पुत्री' के एक मूल भाव की प्राप्ति के पश्चात् तदनुकूल अनेक भावों की कल्पना कर लेना बहुत आसान है। इस तरह की कल्पना को मैं मौलिक नहीं मानता। जिस कल्पना का मेरु-दंड मौलिक नहीं, समालोचक की दृष्टि में वह 'घड़ा' देखकर 'हंडा गढ़ने की तरह मौलिक है।

कार्यवशात् मुझे कलकत्ता आना पड़ा। रास्ते में गाड़ी काशी के स्टेशन पर पहुँची, साहित्यिक मित्रों की याद आई। साहित्य की मही वीर-विहीन हो रही है, या कोई महावीर इस समय भी प्रहरण-कौशल-प्रदर्शन कर रहे हैं, कुछ मालूम न था; कौतूहल बढ़ा, मैं गाड़ी से उतर पड़ा। पहले के एक पत्र से सूचना मिल चुकी थी कि खड़ी बोली की प्रथम कविता की स्वर्ण-लंका को छायावाद के मलिनत्व के स्पर्श से बचाने के लिये 'सरस्वती' के सुकवि-किंकर महाशय ने छायावाद के

कवियों की लांगूलों में आग लगा दी है। कहते हैं, वे कवि उनके सुदृढ़ गढ़ के कँगूरे ढहाते थे, अपने कर्ण-कटु शब्दों से उन्हें हैरान करते थे, और सबसे बड़ा पाप, सोते समय उनकी नासिका के छिद्र में लांगूल करके उन्हें जगा देते थे। अवश्य प्रकाश देखकर प्रसन्न होने से पहले अपने सुख और निद्रा के लिये मोहवशात् क्रोधांध हो जाना स्वाभाविक ही है—कुछ दिनों के बाद मालूम हुआ, लांगूलों की प्रज्वलित वह्नि की शिखाएँ उत्तरोत्तर परिसर प्राप्त करती जा रही हैं। सोचा—यदि इस लंका में पवन-प्रिय पुच्छ-पावक को रावण, कुंभकर्ण, अतिकाय, महोदर और वज्रदंष्ट्रा आदि के गृहों के सिवा विभीषण की भीषण खाल में छिपे किसी कोमल कल्पना-प्रिय सहृदय सज्जन का 'राम-नाम अंकित गृह' नहीं मिला, तो अवश्य यह अनर्थ ही हुआ; क्योंकि इस तरह तो कविता-साहित्य के लंकाकांड की जड़ ही नहीं जम पाती, न भविष्य में हिंदी-साहित्य की रामायण के लिखे जाने की आशा ही सुदृढ़ होती है। निश्चय हुआ कि वर्तमान कविता की सीता के उद्धार के लिये अभी लांगूलों में अग्नि-संयोग से श्रीगणेश ही हुआ समझना चाहिए। यद्यपि इस समय भी लंका, पुलस्त्य-कुल, विभीषण और अशोक-वाटिका आदि वहाँ के संपूर्ण दृश्य और प्राणी लांगूलों के अनल से निःसृत धूम की छाया में छायावाद की कविता की ही तरह अस्पष्ट-रूप नजर आ रहे हैं। आश्चर्य है, न अब तक किसी 'कविराय' ने स्याही के समुद्र में लांगूल-अनल की ज्वाला प्रशमित की, न उनके विरोधियों ने ही 'तेल बोरि पट बाँधि पुनि' की कलकंठ-ध्वनि धीमी की।

मैं सोचता हुआ बाबू शिवपूजनसहायजी के डेरे पर पहुँचा। वहाँ वर्तमान कविता-साहित्य की बहुत-सी बातें मालूम हुईं। वहीं ३० जुलाई, १९२७ के 'मतवाला' में किसी 'युगल' महाशय द्वारा की गई छायावाद के कवियों की प्रशंसा में पंतजी का यह पद्य उद्धृत पाया। अवश्य

'पल्लव' के साथ इसका संबंध नहीं है। शायद यह पंतजी की इधर की रचना है—

"प्रिये, प्राणों की प्राण !
अरे, वह प्रथम मिलन अज्ञात ,
वि पित-मृदु-उर, पुलकित गात;
सशंकित ज्योत्स्ना - सी चुपचाप,
जड़ित-पद, नमित-पलक-दृ -पात;
पास जब आ न सकोगी प्राण,
मधुरता में सी छिपी अजान;
लाज की छुई-मुई-सी म्लान !
प्रिये, प्राणों की प्राण !"

इसे पढ़ते ही मुझे रवींद्रनाथ की उर्वशी की ये पंक्तियाँ याद आ गईं—

"द्विधाय जड़ितपदे कंप्रवक्षे नम्रनेत्रपाते
स्मितहास्ये नहीं चल सलज्जित वासरशय्याते
स्तब्ध अर्द्धराते।"

द्विधाय = सशंकित (ज्योत्स्ना-सी चुपचाप)
जड़ितपदे = जड़ित पद
कंप्रवक्षे = विकंपित मृदु उर
नम्रनेत्रपाते = नमित-पलक-दृक्-पात
स्मितहास्ये = मधुरता में सी छिपी अजान

नहीं चल वासर शय्याते = पास जब आ न सकोगी प्राण
सलज्जित = लाज की छुईमुई-सी म्लान

कहीं कुछ बढ़ा दिया गया है, कहीं रवींद्रनाथ ही के शब्द रख दिए गए हैं। रवींद्रनाथ की 'उर्वशी' के संबंध में बड़े-से-बड़े समालोचकों ने

लिखा है, 'उर्वशी' संसार के कविता-साहित्य में सौंदर्य की एक सर्वोत्तम सृष्टि है। 'उर्वशी' की पंक्तियाँ पंतजी के अनेक पद्यों में आई हैं। यह दिखलाया जा चुका है। इस तरह के अपहरण का फल भी कहा जा चुका है कि इससे भाव की लड़ी टूट जाती है, कविता का प्रकाशन-क्रम नष्ट हो जाता है।

"मा मेरे जीवन की हार
तेरा मंजुल हृदय-हार हो
अश्रु-कणों का यह उपहार;

❀ ❀ ❀

तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल
श्रम-जलमय मुक्तालंकार।"

—पंतजी

"तोमार सोनार थालाय साजाबो आज
दुखेर अश्रु-धार
जननी गो, गांथबो तोमार
गलार मुक्ताहार

❀ ❀ ❀

तोमार बुके शोभा पावे आमार
दुखेर अलंकार।"

—रवींद्रनाथ

'जननी' की जगह पंतजी ने 'मा' संबोधन किया है। 'गलार मुक्ताहार' की जगह 'मंजुल हृदय-हार' आया है। 'दुखेर अश्रु-धार' की जगह 'जीवन की हार' आई है। 'तोमार बुके शोभा पावे आमार दुखेर अलंकार' की जगह 'तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल श्रम-जलमय मुक्तालंकार' हो गया है।

रवींद्रनाथ की 'गीतांजलि' की इस कविता के साथ यदि पंतजी की उद्धृत कविता की समालोचना करूँगा, तो अकारण लेख की कलेवर-

शुद्धि होगी। अतएव जहाँ-जहाँ पंतजी ने परिवर्तन किया है, उस-उस स्थल के परिवर्तन के कारण सौंदर्य, सफलता, निष्फलता आदि छोड़ दिए गए। मेरे विचार से पंतजी के कुल 'विनय' पद्य से और रवींद्रनाथ की गीतांजलि' के १०वें गान से संपूर्ण समता है। वह परिवर्तन परिवर्तन नहीं। यदि हिंदी-संसार में शुचि को कुछ भी मूल्य दिया जाता है, तो मैं कहूँगा, समालोचना होने पर शुद्धि आदरणीय होगी।

"पंतजी की कविता में सोने का बड़ा खर्च है।" एक दूसरे कवि ने कहा था, जब मैं पंतजी के संबंध में उनसे वार्तालाप कर रहा था। उनके उदाहरण—

"मेरा सोने का गान।"

"वह सुवर्ण-संसार"—आदि-आदि।

यह भी पंतजी की अपनी चीज़ नहीं। बंगाल के कवि—

"आजि ए सोनार साँझे"

"सोनार वरणी रानी गो"

"आमार सोनार धाने गियाछे भरि"—आदि-आदि से

अपनी कविता-सुंदरी को आवश्यकता से बहुत अधिक स्वर्णाभरण पहना चुके हैं। और, उनके साहित्य में सोने की आमदनी हुई है विलायत के कवियों की मौलिक कृतियों की खानों से; जैसे—

"In the golden lightning
of the sunken sun"

पंतजी ने हाथ बढ़ाकर बुलाने के सौंदर्य की कल्पना में—

"बढ़ाकर लघु लहरों से हाथ"

"बढ़ाकर लहरों से कर कौन"—आदि-आदि।

अनेक पंक्तियाँ लिखी हैं—यह भी उनकी अपनी कल्पना नहीं। रवींद्रनाथ नदी की कल्पना में 'आकुलि विकुलि शत बाहु तुलि', अन्यत्र मेघेरे डाकिछे गिरि हस्त बाड़ाए' आदि बहुत कुछ लिख चुके हैं। पंतजी ने 'वहीं से लिया' जान पड़ता है।

यही हाल पंतजी के 'सजल'-शब्द का है। बँगला में शायद ही किसी कवि से 'सजल' छूटा हो।

पंतजी के—

"सजल जलधर से घन जलधार"—में

'सजल''-शब्द 'जलधर' के विशेषण के स्थान में अर्थ की द्युति से रहित हो रहा है। जलधर तो सजल है ही, फिर सजल जलधर क्या? जान पड़ता है, पंतजी ने 'जलधर' के शब्दार्थ की ओर ध्यान नहीं दिया, 'जलधर' को निष्प्रभ काले मेघ का एक टुकड़ा समझकर, उस पर 'सजल'-ता की वार्निश कर दी है। पंतजी के 'प्रवेश' में शब्दों के रूप पर जो व्याख्या हुई है, उसके अर्थ से और पंतजी के इस तरह के प्रयोग से साम्य भी है। इसके संबंध में मुझे जो कुछ लिखना है, आगे चलकर इस पर विचार करते समय लिखूँगा।

'राशि-राशि' और उनके 'शत-शत'-शब्दों से जो उच्चारण-सुख हमें मिलता है, इसका कारण हिंदी के कंठ-तालु-दंतोष्ठों द्वारा बँगला-अक्षरों के यथार्थ उच्चारण की अक्षमता है। ये दोनो प्रयोग बँगला के अपने, भाषा के प्रचलित मुहावरे हैं। हिंदी में न कोई 'राशि-राशि' कहता है, न 'शत-शत'।

चले आसे राशि-राशि

ज्योत्स्नार मृदु हासि"—तथा—

"ए आदर राशि-राशि"—आदि से

बँगला में 'राशि-राशि' की अगणित राशियाँ हैं, और 'शत-शत' की सहस्र-सहस्र। हिंदी में सबसे पहला 'शत-शत' का प्रयोग शायद मैथिलीशरणजी ने किया है, परंतु उन्होंने उसके पीछे एक 'संख्यक' जोड़कर उसे हिंदी की रजिस्टर्ड संपत्ति कर लिया। उनके 'पलाशीर युद्ध' के अनुवाद में है—

"शत-शत संख्यक कोहिनूर की प्रभा पाटकर—
दमक रहा था दिव्य रत्न उन्नत ललाट पर।"

अवश्य 'संख्यक' के न रहने पर 'शत-शत' में कामिनी-सुलभ कोमल सौंदर्य अधिक आ जाता है।

"हेरे गगनेर नील शतदल खानि।"

—रवींद्रनाथ

"नभ के नील कमल में।"

—पंतजी

"I laugh when I pass by thunder."

"कड़क-कड़ककर हँसते हम जब थर्रा उठता है संसार।"

—पंतजी

"ये आए वीर बादर बहादर मदन के"

—भूषण

"मदन-राज के वीर बहादर"

—पंतजी

अब इस तरह की पंक्तियों के उद्धरण और न दूँगा। यदि आवश्यकता होगी, तो इस संबंध में फिर कभी लिखूँगा। यह विचार इस समय स्थगित करता हूँ। मेरा मतलब पंतजी पर अकारण आक्रमण करना नहीं। जिस विषय पर 'पल्लव' के 'प्रवेश' में उन्होंने एक पंक्ति नहीं लिखी—उधर दूसरों की समालोचना में अत्युक्ति-से-अत्युक्ति कर डाली है, उस विषय का साहित्य में अनुल्लिखित रह जाना मुझे बुरा जान पड़ा, मैंने उसका उल्लेख किया।

अब मैं उन विषयों पर क्रमशः लिखने की चेष्टा करूँगा, जिन पर पंतजी ने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में विचार किया है। पहले कवित्त-छंद को ही लेता हूँ। पंतजी लिखते हैं, "कवित्त-छंद मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिंदी का औरस-जात नहीं, पोष्य पुत्र है। × × × हिंदी के × × स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है। उसमें यति के नियमों के

पालन-पूर्वक चाहे आप इकतीस गुरु-अक्षर रख दें, चाहे लघु, एक ही बात है ; छंद की रचना में अंतर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा-काल मिलता है, जिससे छंदोबद्ध शब्द एक दूसरे को झकोरते हुए, परस्पर टकराते हुए उच्चारित होते हैं; हिंदी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता। सारी शब्दावली जैसे मद्य-पान कर लड़खड़ाती हुई, अड़ती, खिंचती, एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है। कवित्त-छंद के किसी चरण के अधिकांश शब्दों को किसी प्रकार मात्रिक छंद में बाँध दीजिए, यथा—

"कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है", इस लड़ी को भी सोलह मात्रा के छंद में रख दीजिए—

"सु-कूलन में केलिन में (और)
कछारन कुंजन में (सब ठौर)
कलित क्यारिन में (कल) किलकंत
बनन में बगरयो (विपुल) वसंत।"

"अब दोनो को पढ़िए और देखिए, उन्हीं 'कूलन केलिन' आदि शब्दों का उच्चारण-संगीत इन दो छंदों में किस प्रकार भिन्न-भिन्न हो जाता है। कवित्त में परकीय और मात्रिक छंद में स्वकीय हिंदी का अपना उच्चारण मिलता है।"

कवित्त-छंद के संबंध में पंतजी का जान पड़ना आर्यों के आदिम आवास पर की गई आर्यों ही की सृष्टि-तत्त्व के प्रतिकूल अँगरेज़ों की भिन्न-भिन्न कल्पनाओं की तरह बुद्धि का वयन-शिल्प प्रदर्शन करने के अतिरिक्त और कोई संग्राह्य सार पदार्थ नहीं रखता। हिंदी के प्रचलित छंदों में जिस छंद को एक विशाल भूभाग के मनुष्य कई शताब्दियों तक गले का हार बनाए रहे, जिसमें उनके हर्ष-शोक, संयोग-वियोग और मैत्री-शत्रुता की समुद्गत विपुल भाव-राशि आज

साहित्य के रूप में विराजमान हो रही है—आज भी जिस छंद की आवृत्ति करके ग्रामीण सरल मनुष्य अपार आनंद अनुभव करते हैं, जिसके समकक्ष कोई दूसरा छंद उन्हें जँचता ही नहीं, करोड़ों मनुष्यों के उस जातीय छंद को—उनके प्राणों की जीवनी-शक्ति को परकीय कहना कितनी दूरदर्शिता का परिचायक है, पंतजी स्वयं समझें। पंतजी की रुचि तमाम हिंदी-संसार की रुचि नहीं हो सकती। जो वस्तु उनकी अपनी नहीं, उसके संबंध में विचार करते समय, वह जिनकी वस्तु है, उन्हीं की रुचि के अनुकूल उन्हें विचार करना था। मैं समझता हूँ, जो वस्तु अपनी नहीं होती, उस पर किसी की ममता भी नहीं होती, वह किसी के हृदय पर विजय प्राप्त नहीं कर सकती। जिस दिन कवित्त-छंद की सृष्टि हुई थी, उस दिन वह भले ही हिंदी-भाषी अगणित मनुष्यों की अपनी वस्तु न रही हो, परंतु समय के प्रवाह ने हिंदी के अन्यान्य प्रचलित छंदों की अपेक्षा अधिक बल उसे ही दिया, उसी की तरंग में हिंदी-जनता को अपने मनोमल के धोने और सुभाषित रत्नों की प्रशंसा में बहुत कुछ कहने और सुनने की आवश्यकता पड़ी। पंतजी ने जो कवित्त-छंद को हिंदी के उच्चारण-संगीत के अनुकूल, अस्वाभाविक गति से चलनेवाला बतलाया, इसका कारण पंतजी के स्वभाव में है, जिसका पता शायद लगा नहीं सके। उनकी कविता में (Female graces) स्त्रीत्व के चिह्न अधिक होने का कारण—उनके स्वभाव का स्त्रीत्व कवित्त-जैसे पुरुषत्व-प्रधान काव्य के समझने में बाधक हुआ है। रही संगीत की बात, सो संगीत में भी स्त्री-पुरुष-भेद हुआ करता है—राग और रागिनियों के नाम ही उनके उदाहरण हैं। अक्षर-मात्रिक स्वर-प्रधान राग स्त्री-भेद में और व्यंजन-प्रधान पुरुष-भेद में होंगे। पंतजी ने कवित्त की लड़ी को १६ मात्राओं से जो अपने अनुकूल कर लिया, वह स्त्री-भेद में हो गया है। वह कभी पुरुष-भेद में जा नहीं सकती, उसके स्त्रीत्व का परिवर्तन नहीं हो सकता, परंतु कवित्त

है वह बात नहीं। इस छंद में एक ऐसी विशेषता है, जो संसार के किसी छंद में न होगी। निर्गुण आत्मा की तरह यह पुरुष भी बनता है और स्त्री भी। यों पंतजी ने तो इसे नपुंसक सिद्ध कर ही दिया है। चौताल में इस छंद के पुरुषत्व का कितना प्रसार होता है, स्वर किस तरह परिपुष्ट उच्चरित होते हैं, आनंद कितना बढ़ता है, देखें—

चौताला—

\+   १   १   २
। । । । । । । । । । । ।
कू + ऊ + ल + न + में + ए + के + ए + लि + न + आ + क

\+   १   १   २
। । । । । । । । । । । ।
छा + आ + र + न + में + एं + कु + उं + ज + न + में + एं

\+   १   १   २
। । । । । । । । । । । ।
क्या + आ + रि + ने + में + एं + क + लि + त + अ + अ + क

\+   १   १   २
। । । । । । । । । । । ।
ली + इ + ई + न + कि + ल + कं + अं + अं + त + है + ऐ

जिस "कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है" कवित्त-छंद के संबंध में पंतजी कहते हैं, राग कुंठित हो जाता, तब गुरु और ह्रस्व स्वर आपस में टकराने लगते हैं—केवल एक मात्रा-काल मिलने के कारण उसी छंद के लघु और गुरु-स्वरों को इस चौताल के अवतरण में देखिए, कोई दीर्घ ऐसा नहीं, जिसने दो मात्राएँ न ली हों, कहीं-कहीं ह्रस्व-दीर्घ दोनो स्वर प्लुत कर देने पड़े हैं। पहले कहा जा चुका है कि स्वभाव से Female graces की प्रधानता के कारण पंतजी [illegible]वित्त-छंद की

मौलिकता, उसका सौंदर्य, मन को उच्च परिस्थिति में ले जानेवाली उसकी शक्ति, उसकी स्वर-विचित्रता आदि समझ नहीं सके।

यही कवित्त-छंद, जिसे आप ४८ मात्राओं में चौताल के वर्गीकृत चार चरणों में अलग-अलग देखते हैं, जब ठुमरी के सुकोमल-स्वरूप में आता है, उस समय न यह उदात्त भाव रहता है, न यह पुरुष पुरातन तक ले जानेवाला उसका पौरुष। उस समय के परिवर्तित स्वरूप में इस समय के उसके लक्षण बिलकुल नहीं मिलते, उदाहरण—

तीन ताल—

(१६ मात्रा)

० १ +

कू + ल + न + में + के + लि + न + क + छा + र +

३ ०

न + में + कु + ज + न + में + क्या + रि + न + में +

२ + ३

क + लि + व + क + ली + न + कि + ल + +

त + है + ऐ

इस जगह तीन ताल की साधारण रागिनी में कवित्त-छंद का प्रत्येक अक्षर, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा पा रहा है, केवल अंतिम अक्षर को दो मात्राएँ दी गई हैं, यह १६ + १६ मात्राओं से दोनो लड़ियों को बराबर कर लेने के अभिप्राय से। कवित्त के (१६ + १५) से संगीत के समय की रक्षा नहीं होती, इसलिये १५ मात्राओंवाले चरण के अंतिम गुरु अक्षर को दो मात्राएँ दी गई हैं। कवित्त का यह स्त्री-रूप है। यह झप तथा शूल में भी दस

मात्राएँ लेकर चल सकता है। इसका विश्लेषण यदि कल्पना की दृष्टि से न कर, प्रत्यक्ष जगत् में प्रचलित इसके स्वर-वैचित्र्य की जाँच करने के पश्चात् पंतजी इसके संबंध में कुछ लिखते, तो उन्हें इस तरह के भ्रम में न पड़ना पड़ता।

अब मुक्त-काव्य के संबंध में कुछ लिखना चाहता हूँ। ंतजी लिखते हैं—"सन् १९२१ में, जब 'उच्छ्वास' मेरी कृश लेखनी से यक्ष के कनक-वलय की तरह निकल पड़ा था, तब 'निगम'जी ने 'सम्मेलन-पत्रिका' में उस 'बीसवीं सदी के महाकाव्य' की आलोचना करते हुए लिखा था, "इसकी भाषा ँगीली, छंद स्वच्छंद हैं।" पर उस वामन ने, जो लोक-प्रियता के रात-दिन घटने-बढ़नेवाले चाँद को पकड़ने के लिये बहुत छोटा था, कुछ ऐसी टँगें फैला दीं कि आज सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य-वश हिंदी में सर्वत्र 'स्वच्छंद छंद' ही की छटा दिखलाई पड़ती है।"

पंतजी की इन पंक्तियों से उनके स्वच्छंद छंद के प्रवर्तन की लिप्सा बहुत अच्छी तरह प्रकट हो गई है। उनके हृदय का दुःख भी लोगों के रचे हुए स्वच ंद छंद के विकृत रूप पर (जिसे वे ही यथा रूप से संगठित कर सकने का पुष्ट विचार रखते हैं) प्रकट हो गया है, और विना किसी प्रकार के संकोच के अपने सिद्धांत पर प्रगाढ़ विश्वास रखते हुए स्वच्छंद हृदय से घोषित कर रहे हैं कि दूसरों के स्वच्छंद छंद की हरियाली पर उन्हीं के 'उच्छ्वास' के प्रपात का पानी पड़ा है, अथवा स्वच्छंद छंद की अनुर्वर भूमि उन्हीं की डाली हुई खाद से उपजाऊ हो सकी है—उधर 'उच्छ्वास' के प्रथम मेघ से उस पर पानी भी उन्होंने ही बरसाया; और चूँकि 'निगम'जी ने 'सम्मेलन-पत्रिका' में उनके 'उच्छ्वास' की लड़ियों को स्वच्छंद छंद स्वीकार कर लिया है, इसलिये वह स्वच्छंद छंद के सिवा और कुछ हो भी नहीं सकता।

इसमें संदेह नहीं कि पंतजी की भूमिका से हिंदी में स्वच्छंद छंद विनोद बाबू का कॉमा (,) हो रहा है। इस 'कॉमा' का इतिहास—

किसी स्टेट में (घटना सत्य होने के कारण स्टेट का नाम नहीं लिया गया) विनोद बाबू, एक बंगाली सज्जन, नौकर थे। हेड क्लर्क थे। सब ऑफ़िसरों को विश्वास था, विनोद बाबू अच्छी अँगरेज़ी लिखते हैं। ख़त-किताबत का काम उन्हीं के सिपुर्द था। एक रोज़ राजा साहब एकाएक कचहरी में दाख़िल हो गए। सब ऑफ़िसरों ने उठकर उनका यथोचित सम्मान किया। राजा साहब बैठ गए, और लोग भी बैठे। मैनेजर साहब विनोद बाबू की लिखी एक चिट्ठी ग़ौर से देख रहे थे। राजा साहब न रहते, तो अवश्य वह उस पर अपने हस्ताक्षर कर देते, परंतु राजा साहब को अपने कार्य की दक्षता दिखलाने के विचार से उन्होंने विनोद बाबू से कहा, यहाँ एक कॉमा लगाना चाहिए। बहुत दिनों से राजा साहब स्टेट की देख-रेख कर रहे थे। परंतु यह श्रुति-मधुर नाम पहले कभी उन्होंने न सुना था। उन्होंने निश्चय कर लिया कि स्टेट की रक्षा के लिये यह ज़रूर शतघ्नी से बढ़कर कोई महास्त्र होगा। उन्होंने मैनेजर की तनख़्वाह बढ़ा दी। दूसरे दिन मैनेजर के आने से पहले ही वह कचहरी पहुँचे। तब तक विनोद बाबू दो-तीन चिट्ठियाँ लिख चुके थे। मैनेजर की कुर्सी पर राजा साहब को देखकर उन्हीं के सामने हस्ताक्षरों के लिये चिट्ठियाँ रख दीं। उसी तरह ग़ौर से राजा साहब भी चिट्ठियों को देखते रहे (राजा साहब को अँगरेज़ी-वर्णमाला का ज्ञान था)। विनोद बाबू से कहा, देख लो, कहीं कॉमा की ग़लती न हो गई हो। विनोद बाबू ने उस रोज़ तो शांति-पूर्वक सब काम किया, परंतु दूसरे दिन कॉमा के महत्त्व से घबराकर उन्होंने इस्तीफ़ा दाख़िल कर दिया।

इसी तरह हिंदी में स्वच्छंद छंद के कॉमा का प्रचलन करना यदि पंतजी का अभिप्राय है, तो, मैं कहूँगा, आश्चर्य नहीं, यदि उससे कितने ही विनोद बाबू मजबूर होकर इस्तीफ़ा दाख़िल करें।

पंतजी की कविताओं में स्वच्छंद छंद की एक लड़ी भी नहीं, परंतु वह कहतेहैं, "'पल्लव' में मेरी अधिकांश रचनाएँ इसी छंद में हैं, जिनमें 'उच्छ्वास', 'आँसू' तथा 'परिवर्तन' विशेष बड़ी हैं।" यदि गीति-काव्य और स्वच्छंद छंद का भेद, दोनो की विशेषताएँ पंतजी को मालूम होतीं, तो वह ऐसा न लिखते। 'स्वच्छंद छंद' और 'मुक्त-काव्य' के 'स्वच्छंद' और 'मुक्त' विशेषणों के अलंकारों से यदि उन्हें अपनी शोभा बढ़ाने का लोभ हुआ हो, तो यह और बात है; क्योंकि हिंदी के वर्तमान शब्द-प्रमाद-ग्रस्त अनेक कवि स्वयं ही अपने नामों के पहले 'कविवर' और 'कवि-सम्राट्' लिखने तथा छापने के लिये संपादकों से अनुरोध करने की उच्च आकांक्षा से पीड़ित रहा करते हैं। परंतु यदि यथार्थ तत्त्व की दृष्टि से उनकी पंक्तियों की जाँच की जाय, तो कहना होगा कि उनकी इस तरह की पंक्तियाँ—

"दिव्य स्वर या आँसू का तार
बहा दे हृदयोद्गार !"

जिनकी संख्या उनकी अब तक की प्रकाशित कविताओं में बहुत थोड़ी है—विषम मात्रिक होने पर भी गीति-काव्य की परिधि को पार कर स्वच्छंद छंद की निराधार नंदन-भूमि पर पैर नहीं रख सकतीं। उद्धृत प्रथम पंक्ति में चार आघात हैं और दूसरी में तीन। इस तरह की पंक्तियों में छंद की मात्राओं से पहले संगीत की मात्राएँ सूझ जाती हैं। छंद भी संगीत-प्रधान है, अतएव यह अपनी प्रधानता को छोड़कर एक दूसरे छंद के घेरे में, जो इसके लिये अप्रधान है, नहीं जा सकता। दूसरे स्वच्छंद छंद में 'तार' और 'गार' के अनुप्रासों की कृत्रिमता नहीं रहती—वहाँ कृत्रिम तो कुछ है ही नहीं। यदि कारीगरी की गई, मात्राएँ गिनी गईं, लड़ियों के बराबर रखने पर ध्यान रक्खा गया, तो इतनी बाह्य विभूतियों के गर्व में स्वच्छंदता का सरल सौंदर्य, सहज प्रकाशन, निश्चय है कि नष्ट हो जाता है। पंतजी ने जो लिखा

है कि स्वच्छंद छंद ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चल सकता है, यह एक बहुत बड़ा भ्रम है। स्वच्छंद छंद में Art of music नहीं मिल सकता, वहाँ है Art of reading. वह स्वर-प्रधान नहीं, व्यंजन-प्रधान है। वह कविता की स्त्री-सुकुमारता नहीं, कवित्व का पुरुष-गर्व है। उसका सौंदर्य गाने में नहीं, वार्तालाप करने में है। उसकी सृष्टि कवित्त-छंद से हुई है, जिसे पंतजी विदेशी कहते हैं, जो उनकी समझ में नहीं आया। मेरे—

"देख यह कपोत-कंठ—
बाहु-वल्ली—कर-सरोज—
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितंब-भार—चरण सुकुमार—
गति मंद-मंद,
छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का ;
देवों-योगियों की तो बात ही निराली है।"

इस छंद को, जिसे मैं हिंदी का मुक्त-काव्य समझता हूँ, पंतजी ने रवींद्रनाथ की—

"हे सम्राट कवि,
एइ तव हृदयेर छवि,
एइ तव नव मेघदूत,
अपूर्व अद्‌भुत"—आदि—

पंक्तियों के उद्धरण से बँगला से लिया गया सिद्ध करने की चेष्टा की है। वह कहते हैं, निरालाजी का यह छंद बँगला के अनुसार चलता है। उनकी यह रवींद्रनाथ के छंद से समता दिखाने का प्रयत्न शायद उनके कृत कार्यों का संस्कार-जन्य फल हो; परंतु वास्तव में इस छंद की स्वच्छंदता उनकी समझ में नहीं आई। यदि वह कवित्त-छंद को कुछ महत्त्व देते, तो शायद समझ भी लेते।

'देख यह कपोत-कंठ' के 'ह' को निकाल दीजिए। अब देखिए,

कवित्त-छंद के एक चरण का एक टुकड़ा बनता है या नहीं। इसी तरह 'बाहु-बल्ली कर-सरोज' के 'र' को निकालकर देखिए। लिखे हुए संपूर्ण चरणों की धारा कवित्त-छंद की है, नियमों की रक्षा नहीं की गई, न स्वच्छंद छंद में की जा सकती है। कहीं-कहीं विना किसी प्रकार का परिवर्तन किए ही मेरे मुक्त-काव्य में कवित्त-छंद के बद्ध लक्षण प्रकट हो जाते हैं। अवश्य इस तरह की लड़ी मैं जान-बूझकर नहीं रक्खा करता। पंतजी द्वारा उद्धृत मेरे उस अंश की तीसरी लड़ी—

'उन्नत उरोज पीन'—

इसका प्रमाण है। यदि कोई महाशय यह पूछें कि कहीं-कहीं त कवित्त-छंद का सच्चा स्वरूप प्रकट होता है, और कहीं-कहीं नहीं हो पाता, ऐसा क्यों ?—यह तो छंद की कमज़ोरी है, ऐसा न होना चाहिए, उत्तर में निवेदन मुझे जो कुछ करना था, एक बार संक्षेप में कर चुका हूँ, यहाँ फिर कहता हूँ। मुक्त-काव्य में बाह्य समता दृष्टिगोचर नहीं हो सकती, बाहर केवल पाठ से उसके प्रवाह में जो सुखमिलता है, उच्चारण से मुक्ति की जो अबाध धारा प्राणों को सुख-प्रवाह-सिक्त निर्मल किया करती है, वही इसका प्रमाण है। जो लोग उसके प्रवाह में अपनी आत्म को निमज्जित नहीं कर सकते, उसकी विषमता की छोटी-बड़ी तरंगों को देखकर ही डर जाते हैं, हृदय खोलकर उससे अपने प्राणों को मिला नहीं सकते, मेरे विचार से यह उन्हीं के हृदय की दुर्बलता है। दुःख है, वे ज़रा देर के लिये भी नहीं सोचते कि संभव है, हमीं किसी विशेष कारण-वश इसके साथ मिल न सकते हों—इसे पढ़ न सकते हों। वे तुरंत अपना अज्ञान बेचारे कवि के ललाट पर मढ़ा हुआ देखने लगते हैं। व्यक्तित्व के विचार से अपने व्यक्तित्व का मूल्य कोई भले ही न घटाए, परंतु कवि बेचारे को भी अपनी समझ की तुला पर उतने ही वजन का रक्खे, निवेदन यह है। अन्यथा बुद्धि की इकतरफ़ा डिग्री देने का उन पर दोष लगता है। मेरे 'अमित्र' जी जो पहलेपहल लोगों से मैत्री नहीं

कर सके, इसका मुख्य कारण यही है, उनके हृदय में सहृदयता काफ़ी थी, वेश-वैचित्र्य के होने पर भी, इंगितैर्गत्या, वह अपने ही जान पड़ते थे। पूर्व-कथित कारण के अनुसार, उन्हें देखकर, हमारे कुछ पूज्यपाद आचार्यों ने और कुछ कवि-महोदयों ने अपनी अमूल्य सम्मति की एक कौड़ी भी फ़िज़ूलख़र्च में नहीं जाने दी। गत वर्ष कलकत्ते में हिंदी के प्रसिद्ध कवि बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त से मुलाक़ात हुई, और इस अमित्र छंद के संबंध में उनके पूछने पर मेरी ओर से उन्हें जो उत्तर मिला, उनकी उस समय की प्रसन्नता से मुझे ऐसा जान पड़ा, जैसे दो मनुष्यों के हृदय की बातें एक हो गई हों—जैसे मेरे विचार और उनके विचार एक हो गए हों। गुप्तजी ने कहा, मेरा भी यही विश्वास है कि मुक्त-काव्य हिंदी में कवित्त-छंद के आधार पर ही सफल हो सकता है। गुप्तजी द्वारा किया गया वीरांगना-काव्य का अनुवाद जिन दिनों 'सरस्वती' में निकल रहा था, उन दिनों, इस अमित्र छंद की सृष्टि मैं कर चुका था—मैं कर क्यों चुका था, भाव के आवेश में 'जूही की कली' उन दिनों मेरी कापी में खिल चुकी थी। गुप्तजी के छंद में नियम थे। मैंने देखा, उन नियमों के कारण, उस अनुवाद में बहाव कम था—वह बहाव जैसे नियम के कारण आए हुए कुछ अक्षरों को—उनके बाँध को तोड़कर स्वच्छंद गति से चलने का प्रयास कर रहा हो—वे नियम मेरी आत्मा को असह्य हो रहे थे—कुछ अक्षरों के उच्चारण से जिह्वा नाराज़ हो रही थी।

जिस समय आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक थे, 'जुही की कली' सरस्वती में छापने के लिये मैंने उनकी सेवा में भेजी थी। उन्होंने उसे वापस करते हुए पत्र में लिखा—आपके भाव अच्छे हैं, पर छंद अच्छा नहीं, इस छंद को बदल सकें, तो बदल दीजिए।

मेरे पास ज्यों-की-त्यों वह तीन-चार साल तक पड़ी रही। फिर

संगीतात्मक विषम-मात्रिक गीति-काव्य में मैंने अपनी 'अधिवास' नाम की कविता 'सरस्वती' के वर्तमान संपादक श्रीपदुमलाल, पुन्नालालजी बख्शी बी० ए० महोदय के पास भेजी। पंतजी ने अपने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में इसकी भी आलोचना की है, और इसमें संगीत के रहने के कारण इसे हिंदी की अपनी वस्तु बतलाया है (कारण, गीति-काव्य उनके छंदों के प्रवाह से मिलता-जुलता है!)। अस्तु बख्शीजी ने उस कविता पर यह नोट लिखा—इसके भाव समझ में नहीं आए, इसलिये सधन्यवाद वापस करता हूँ। यह उस साल की बात है, जिस साल पहलेपहल बख्शीजी 'सरस्वती' के संपादक हुए थे।

हिंदी-संसार समझ सकता है कि संपादकों की इतनी बारीक समझ बेचारे नए लेखक और कवि पर क्या काम करती है। दो वर्ष बाद पूज्यपाद आचार्य द्विवेदीजी महाराज ने 'समन्वय' वालों से मेरा परिचय कराया। क्रमशः अनुकूल समय के आने पर मैं 'समन्वय' का संपादक (प्रत्यक्ष विचार से सहायक) होकर कलकत्ता गया। हिंदी के साहित्यिकों में मेरे प्रथम मित्र हुए बाबू महादेवप्रसादजी सेठ ('मतवाला के सुयोग्य संपादक) और बाबू शिवपूजनसहायजी (हिंदी के स्वनाम-धन्य लेखक)। श्रीमान् सेठजी को मेरी कविता में तत्त्व दिखलाई पड़ा, वह हृदय से उसके प्रशंसक हुए। बाबू शिवपूजनसहायजी ने अपने 'आदर्श' में मेरी 'जुही की कली' को जगह दी, और भावों की प्रशंसा से मुझे उत्साह भी दिया। इसके पश्चात् वही 'अधिवास', जिसे बख्शीजी ने न समझ सकने के कारण वापस कर दिया था, सेठजी के कहने पर बाबू शिवपूजनसहायजी ने 'माधुरी' के संपादकों के पास भेज दिया, और 'माधुरी' के उस समय के संपादक श्रीदुलारेलालजी भार्गव और श्रीरूपनारायणजी पांडेय ने उसे 'माधुरी' के मुख-पृष्ठ पर निकाला। यह बात 'माधुरी' के प्रथम वर्ष की है। कलकत्ते में पांडेयजी की कविता-मर्मज्ञता प्रसिद्ध थी। इसीलिये वह कविता उनके पास भेजी गई थी।

भार्गवजी भी मेरी कविता के प्रशंसक थे, यह मुझे मालूम हुआ, जब वह कलकत्ता गए। और भी मेरी कई कविताएँ 'माधुरी' में अग्र-पश्चात् निकलीं, परंतु मुझे हिंदी-संसार के सामने लाने का सबसे अधिक श्रेय है सहृदय साहित्यिक, श्रीबालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' के शब्दों में छिपे हुए हीरे, श्रीमहादेवप्रसादजी सेठ को और उनके पत्र 'मतवाला' को। मुझे मेरे 'मास्टर साहब' हिंदी के वृद्ध केसरी श्रीमान् राधामोहन गोकुलजी ने भी किसी से कम प्रोत्साहन नहीं दिया।

मेरे विरोध में जो बड़े-बड़े लोग खड़े हुए थे, मैं उनकी चर्चा से अकारण लेख की कलेवर-वृद्धि न करूँगा। इतिहास की दृष्टि से जो कुछ लिखना आवश्यक समझता हूँ, 'माधुरी' के पाठकों के सामने उतना ही अंश निवेदन के रूप में रक्खूँगा।

चिरकाल से बंगाल में रहने के कारण हिंदी और बँगला की नाट्यशालाओं में अभिनय देखते रहने के मुझे विशेष अवसर मिले। कलकत्ता इन दोनो भाषाओं के रंगमंचों से प्रसिद्ध है। हिंदी के रंग-मंचों में अलफ्रेड और कोरिंथियन के नाटकों को देखकर मुझे बड़ा दुःख होता था। उनके नटों के अस्वाभाविक उच्चारण से तबियत घबराने लगती थी। उस समय मैं १६-१७ से अधिक न था। कल्पना की सुदूर भूमि में हिंदी के अभिनय की सफलता पर विचार करते हुए, बोलते हुए, पाठ खेलते हुए, जिस छंद की सृष्टि हुई, वह यही है, और पीछे से विचार करके भी देखा, तो इसे स्वभाव-वश निश्छल हृदय की सत्य ज्योति की तरह निकला हुआ पाया। वेदों और उपनिषदों में इसकी पुष्टि के प्रमाण भी अनेक मिले, और सबसे प्रधान युक्ति, जिस किसी के सामने मैंने इसे पढ़ा, उसी के हृदय में 'कुछ है' के रूप से इसने घर कर लिया। पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी, पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय, पं० सकलनारायणजी शर्मा, पं० चंद्रशेखरजी शास्त्री, इसके उदाहरण हैं। पूज्यपाद द्विवेदीजी महाराज ने भी इसे मेरे मुख

से सुना है, और उस समय की उनकी प्रसन्नता ने मुझे सफलता का ही विश्वास दिलाया।

ये सब बाहर की बातें हुईं। मेरी आत्मा में तो इसकी सफलता पर इतना दृढ़ विश्वास है, जो किसी तरह भी नहीं दूर हो सकता। एक दिन वह भी था, जब हिंदी-संसार एक तरफ़ और मैं अपने 'अमित्र' महाशय के साथ एक तरफ़ था। अब तो उस तरह की शैली में बहुत कुछ दूसरों को भी सफलता मिल गई है।

अस्तु। वेदों और उपनिषदों में इस तरह के अनेक छंद हैं। छंद:शास्त्र का निर्माण भाषा के तैयार हो जाने के पश्चात् हुआ करता है, जैसे बच्चे के पैदा हो जाने के बाद उसका नामकरण। स्वर की बराबर लड़ियों में भी शब्द निकलते हैं और विषम लड़ियों में भी। जैसे आलाप में ताल नहीं होता, राग या रागिनी का चित्र-मात्र देखने और समझने के लिये सामने आता है, उसी तरह मुक्त-काव्य में स्वर का संयम नहीं देख पड़ता—स्वर की लड़ी बराबर नहीं मिलती, कविता की केवल मूर्ति सामने आती है। राग या रागिनी जब सीमा के अंदर, बजानेवाले की सुविधा के लिये, बाँध दी जाती है, तब ताल में उसके बँधे रूप का लावण्य रहता है—जैसे एक ही विहंग की वन में स्वाधीन वृत्तियाँ और पींजड़े में ससीम चेष्टाएँ।

वैदिक छंद, अतिछंद और विच्छंद को बहु भेदों में बाँटकर भी कोई उनके सब छंदों के नामकरण नहीं कर सका। अंत में अनंत भेद (!) मान लिए गए। ठीक ही है, जब सृष्टि में भी 'अगणित' दिखलाई पड़ा, तब गिनने की धृष्टता समझ में आ गई।

इसी तरह मेरे मुक्त-काव्य में गिनने की धृष्टता नहीं की जा सकती। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कवित्त-छंद हिंदी का चूँकि जातीय छंद है, इसलिये जातीय मुक्त छंद की सृष्टि भी कवित्त-छंद की गति के अनुकूल हुई है।

ब्रजभाषा के संबंध में पंतजी लिखते हैं—"हिंदी ने अब तुतलाना छोड़ दिया, वह 'पिय' को 'प्रिय' कहने लगी है। उसका किशोर कंठ फूट गया, अस्फुट अंग कट-छँट गए, उनकी अस्पष्टता में एक स्पष्ट स्वरूप की झलक आ गई; वक्ष विशाल तथा उन्नत हो गया; पदों की चंचलता दृष्टि में आ गई; हृदय में नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगीं, ज्ञान की परिधि बढ़ गई : × × × × विश्व-जननी प्रकृति ने उसके भाल में स्वयं अपने हाथ से केशर का सुहाग-टीका लगा दिया, उसके प्राणों में अक्षय मधु भर दिया है। × × × मुझे तो उस तीन-चार सौ वर्ष की वृद्धा के शब्द बिलकुल रक्त-मांस-हीन लगते हैं ; जैसे भारती की वीणा की झंकारें बीमार पड़ गई हों, उसके उपवन के लहलहे फूल मुरझा गए हों; जैसे साहित्याकाश का 'तरणि' ग्रहण लग जाने से निष्प्रभ 'तरनि' बन गया हो; भाषा के प्राण चिर-काल से पीड़ित तथा निःशक्त होकर अब 'प्रान' कहे जाने योग्य रह गए हों × × × × और 'थान' जैसे बहुत दिनों से लिपा-पुता न हो, श्रीहीन बिछाली बिछा हुआ, ढोरों के रहने योग्य; वैसे ही ब्रजभाषा की क्रियाएँ भी—'कहत', 'लहत', 'हरहु', 'भरहु'—ऐसी लगती हैं, जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुँह की पेशियाँ ठिठुर गई हों, अच्छी तरह खुलती न हों, अतः स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो ; पर यह सब खड़ी बोली के शब्दों को सुनने, पढ़ने, उनके स्वर में सोचने आदि का अभ्यास पड़ जाने से।"

खड़ी बोली और ब्रजभाषा पर पंतजी ने अपनी कविता की भाषा में जो आलोचना की है, उसमें उन्होंने अपने ही भावों पर ज़ोर दिया है, इसलिये उनके विचारों से अपना एक पृथक् विचार रखने पर भी मैं उन्हें विशेष कुछ कहने का अधिकारी नहीं रह जाता। सत्य-विवेचन की दृष्टि से ही मैं यहाँ ब्रजभाषा के संबंध में विचार करूँगा।

पंतजी की तरह मेरा भी खड़ी बोली से प्रेम-संबंध घनिष्ठ है। परंतु जब भाषा-विज्ञान का प्रश्न सामने आता है, उस समय कुछ काल के लिये विवश होकर प्रेम-संबंध से अलग, न्यायानुकूल विचार करना पड़ता है। संस्कृत का 'धर्म' जब पाली में 'धम्म' बन गया, उस समय धर्म की अपेक्षा 'धम्म' में ही लोगों को अधिक आनंद मिलता था। इधर 'धर्म' से 'धरम' का भी यही हाल रहा। स्वेच्छानुवर्ती कवियों ने किसी भी काल में नियमों की परवा नहीं की। वे अपनी आत्मा के अनुशासन के अनुसार ही चलते गए। कुछ लोगों का कहना है कि समाज ज्यों-ज्यों मूर्ख होता गया, अपभ्रष्ट शब्दों की संख्या भी त्यों-त्यों दिन दूनी और रात चौगुनी की कहावत के अनुसार बढ़ती गई। क्रमशः भाषा भी एक रूप से दूसरे रूप में बदलती चली गई। मैं यहाँ इस मीमांसा से प्राणों की सहृदयता की मीमांसा अधिक पसंद करता हूँ। मेरे विचार से अचिरता की गोद में प्रचलित शब्दों की भी समाधि होती है—कुछ ही काल तक किसी प्रचलित शब्द को मनुष्य समाज के अधर धारण करते हैं। फिर उसके परिवर्तित रूप से ही उन का स्नेह अधिक हो जाता है। अथवा उस शब्द का अपर-रूप-धारण प्रेम के कारण ही हुआ करता है।

कारीगरी के विचार से व्रजभाषा-काल में शब्दों की जो छान-बीन हुई है, जिस-जिस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं, भाषा-विज्ञान उन्हें बहुत ही ऊँचे आसन पर स्थापित करता है। सहृदयता उनकी व्याख्या में अपने हृदय का रस निःशेष कर देती है। खड़ी बोली की विभक्तियाँ—को, के लिये, से, का, के आदि व्रजभाषा का हिं, कौं, सैं, सों, कहँ आदि से समता की स्पर्द्धा नहीं कर सकती। खड़ी बोली में एक ही विभक्ति मधुर है—'में', परंतु वह भी व्रजभाषा की 'मँहँ' की श्रुति-सरसता से फीकी पड़ जाती है। व्रजभाषा में ँ की मणि से जैसा

सौंदर्य का उज्ज्वल गौरव खड़ी बोली में नहीं मिल सकता। पश्चिमी भाषाओं में फ्रेंच की विजय और स्पर्द्धा इसीलिये है। संस्कृत में भी इसके चढ़ाव से श्री भरी हुई है। उधर ब्रजभाषा ने अपनी क्रियाओं के रूपों में भी यथेष्ट श्रुति-कोमलता ला दिखलाई है। 'लाभ करते' की तुलना में 'लहत', 'मुड़ते' की तुलना में 'मुरत', 'पाते' की अपेक्षा 'पावत' विशेष श्रुति-मधुर हैं। सारांश यह कि ब्रजभाषा एक समय जीवित भाषा रह चुकी है, और यों तो अब भी वह जीवित ही है, परंतु खड़ी बोली इस समय भी हिंदी-भाषा का मातृ-गौरव नहीं प्राप्त कर सकी। पंतजी यदि खड़ी बोली में ही विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, तो इससे बढ़कर हर्ष की बात और क्या हो सकेगी। परतु जहाँ वह रहते हैं, अल्मोड़े के उन देहात-वासियों के साथ, अवश्य ही, उन्हें, वहाँ की ही प्रचलित भाषा में बातचीत करनी पड़ती होगी, और, यदि अपनी उस जातीय भाषा से, खड़ी बोली के प्रति विशेष प्रेम के कारण, वार्तालाप करते समय, वह कुछ भी विराग दिखलाते होंगे, तो निस्संदेह युक्ति के अनुसार, वहाँ के अधिवासियों के साथ अपने प्राणों की सोलहो आने सहृदयता से मिल भी न सकते होंगे। भविष्य में, दो-चार पीढ़ियों के बाद, शिक्षित-समुदाय की एक भाषा अलग हो जाय, यह बात और है। और, जो लोग मेरठ-सरौडिंग की भाषा के साथ हिंदी में प्रचलित वर्तमान भाषा-साहित्य को एक कर देने के प्रयत्न में रहते हैं, उनसे तो अकेले (हिंदी) कविता-कौमुदीकार ही अच्छे, जिन्होंने हिंदी की प्रथम सृष्टि से अब तक का क्रम किसी तरह नहीं बिगड़ने दिया। ब्रजभाषावालों के शब्दों और क्रियाओं के परिवर्तित रूप तो पंतजी को जाड़े की कुक्कुर-कुंडलीवत् सिकुड़े हुए दिखलाई पड़ते हैं, और स्वयं जो खड़ी बोली के चिर-प्रचलित 'भौंह'-शब्द को 'भोंह' कर देते हैं, कहते हैं, वह सुंदर बन जाता है।

बात यह कि आज किसी प्रांतीय भाषा के साथ अपने हृदय की पूर्णता और उज्ज्वल उत्कर्ष पर विश्वास रखकर वार्तालाप करने की शक्ति, हिंदी के प्रचलित दो रूपों में, यदि किसी में है, तो व्रजभाषा में। व्रजभाषा का प्रभाव बंगाल के प्रथम वैष्णव कवियों पर भी पड़ा और इधर सुदूर गुजरात तक फैला। उद्धरणों से लेख की कलेवर-वृद्धि का भय है। इसलिये व्रजभाषा का भाषा वैज्ञानिक विस्तृत विवेचन, समय मिला, तो फिर करूँगा।

अब आजकल के प्रचलित विश्ववाद पर विचार होना चाहिए। पंतजी लिखते हैं—"अधिकांश भक्त कवियों का संपूर्ण जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की संकीर्णता की यमुना पड़ गई; कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी में बह गए; बड़े परिश्रम से कोई पार भी गए, तो व्रज से द्वारका तक पहुँच सके, संसार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गई। × × × कठिन काव्य के प्रेत, पिंगलाचार्य, भाषा के मिल्टन, उडुगन केशवदासजी, तथा जहाँ-तहाँ प्रकाश करनेवाले मतिराम, पद्माकर, बेनी, रसखान आदि – जितने नाम आप जानते हों, और इन साहित्य के मालियों में से जिनकी विलास-वाटिका में भी आप प्रवेश करें, सब में अधिकतर वही कदली के स्तंभ, कमल-नाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खंजन, शंख, पद्म, सर्प, सिंह, मृग, चंद्र; चार आँखें होना, कटाक्ष करना, आह भरना, रोमांचित होना, दूत भेजना, कराहना, मूर्च्छित होना, स्वप्न देखना; अभिसार करना बस इसके सिवा और कुछ नहीं! सबकी बावड़ियों में कुत्सित प्रेम का फुहारा शत-शत रसधारों में फूट रहा है; सीढ़ियों पर एक अप्सरा जल भरती या स्नान करती है, कभी एक संग रपट पड़ती, कभी नीर-भरी गगरी ढरका देती है! × × × उसका (व्रजभाषा का) वक्षःस्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा

पश्चिमी गोलार्द्ध; जल-स्थल, अनिल-आकाश, ज्योति-अंधकार, वन-पर्वत, नदी-घाटी, नहर-खाड़ी, द्वीप-उपनिवेश; उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौंदर्य, × × × सब कुछ समा सके।"

जिनके संस्कार बहुत कुछ अंगरेज़ी-कविता के साँचे में ढल जाते हैं, उन्हें ब्रजभाषा की कविता पसंद नहीं आती, यह बहुत ठीक है। परंतु यह भी बहुत ठीक है कि पंतजी ने ब्रजभाषा पर अपनी उदासीनता के कारण जो कटाक्ष किया है, वह कुछ ही अंशों में सत्य है।

आजकल के शिक्षित लोग यह समझते हैं कि वे पहले से इस समय ज्ञान की ऊँची भूमि पर विचरण कर रहे हैं। पहले तो यह ज्ञान ही मेट देता है। इसके पश्चात् गौरांगों की उज्ज्वल अँगरेज़ी, गौरांगों का गुरुत्व और कृष्णांगों पर गौरांगों का भाष्य और उस भाष्य पर कृष्णांग बालकों का विश्वास।

'भारत-भारती' के एक पद्य में है, अच्छा लिखा है दो ही लाइन में कि जिस समय से भारत के पतन का अंधकार घनतर होता गया, दूसरे देशों विशेष रूप से पश्चिम की उन्नति का क्रम उसी समय से दिखलाई पड़ता है। इसलिये भारत की उन्नति के समय का अनुमान करना कठिन है। अपने समय का श्रेष्ठ अँगरेज़ विद्वान् मैक्समूलर, प्राचीन भारत के कल्पना-लोक में विचरण करते रहने के कारण, नवीन भारत के विकृत रूप को देखने का साहस नहीं कर सका। बार-बार उसने अपनी भारत-दर्शन की लालसा रोकी।

ऐसे भारत की कविता में भी एक विचित्र तत्त्व है। थोड़ी देर के लिये ब्रजभाषा को जाने दीजिए, संस्कृत को लीजिए। और ब्रजभाषा के शृंगारी कवियों को दुनाली बंदूक़ के सामने रखकर भी ज़रा सुन लीजिए। संस्कृत-काल के व्यास और शुकदेव प्रसिद्ध ऋषि हैं। शुकदेव

की जीवनी किसी भारतीय से अविदित न होगी। इन दोनो महापुरुषों का स्मरण कर भागवत भी देखिए। देखिए, एक ओर कवि के गहन वेदांतिक विचार और दूसरी ओर गोपियों के शृंगार-वर्णन में अश्लीलता की हद, जैसा कि आजकल के विद्वान् कहेंगे। उधर गीत-गोविंद के प्रणेता भी कितने बड़े वैष्णव और भक्त थे, यह किसी पढ़े-लिखे महाशय से छिपा नहीं है। उनके भी—

"गोपी-पीन-पयोधर-मर्दन-चंचल-कर-युगशाली—
धीर-समीरे यमुना-तीरे वसति वने वनमाली"—

अयि प्रिये, "मुंच मयि मानमनिदानम्"—आदि देखिए। और इधर फिर विद्यापति, जिनके—

"चरन - चपल - गति लोचन नेल"
"चरन - चपलता लोचन नेल"

का लोभ पंतजी संवरण नहीं कर सके, और अपने गद्य में भी—

'पदों की चंचलता दृष्टि में आ गई" द्वारा भावानुसरण की चेष्टा की, वह विद्यापति भी प्रसिद्ध चरित्रवान् थे, नौकर के रूप में रहकर जिन्हें भगवान् विश्वनाथ ने दर्शन देने की कृपा की। आजकल की प्रचलित अश्लीलता का प्रसंग सामने आने पर शायद वह अपने किसी भी समानधर्मा से घटकर न होंगे—

"दिन-दिन पयोधर भै गेल पीन ;
बाढ़ल नितंब माझ भेल खीन।"
"थरथरि काँपल लहु लहु भास ;
लाजे न बचन करए परकास।"
"नीविबंधन हरि काहे कर दूर ;
एहो पै तोहार मनोरथ पूर।" आदि-आदि

अश्लील-से-अश्लील वर्णन उन्होंने किए हैं। यही हाल बँगला के

प्रथम और सर्वमान्य कवि चंडिदास का रहा; जिन्हें देवी के साक्षात् दर्शन हुए और कृष्ण की मधुर-रस से उपासना करने की, देवी के आचरण से, जिनकी प्रवृत्ति हुई—अवश्य औरों की तरह वह अश्लील नहीं हो सके। इधर व्रजभाषा में भी यही दशा रही। संस्कृत के प्रसिद्ध श्रीहर्ष और कालिदास का तो ज़िक्र ही नहीं किया गया।

भारतवर्ष और योरप की भावना की भूमि एक होने पर भी दोनो की भावनाओं के प्रसरण का ढंग अलग-अलग है। रवींद्रनाथ की युक्ति के अनुसार योरप की कविता के सितार में, बोलवाले तार की अपेक्षा स्वर भरनेवाले तारों की झनकार ज्यादा रहती है। परंतु भारतवर्ष में विशेष ध्यान रस-पुष्टि की ओर रहने के कारण प्राणों का संचार कविता में अधिक देख पड़ता है। यहाँ के कवि व्यर्थ की बकवास नहीं करते। यहाँ-वहाँ के उपमान-उपमेयों का ढंग भी जुदा-जुदा है। यहाँ की उपमा जितना चुभती है, वहाँ की उपमा उतना घाव नहीं कर सकती। यहाँ प्रेम है, वहाँ मादकता। यहाँ दैवी शक्ति है और वहाँ आसुरी; इसलिये यहाँ की कविता में एक प्रकार की शक्ति रहती है और वहाँ की कविता में प्रगल्भता। यदि तुलसी-कृत रामायण का अनुवाद किसी विद्वान् अँगरेज़ के सामने रख दिया जाय, तो शायद ही श्रीगोस्वामीजी की कविता में उसे कोई कला (art) दिखलाई पड़े। बल्कि मैं तो गोस्वामीजी को महासौभाग्यवान् समझूँ, यदि उनके लक्ष्मण, सुमित्रा, सीता और भरत के चरित्र-चित्रण को देखकर, वह उन्हें हाल ही दम लगाकर लौटा हुआ सिद्ध करने से शांत रहे। विभीषण से वह कितना प्रसन्न होगा, आप सहज ही अनुमान कर सकते हैं। एशिया के कवियों में उमरख़ैयाम की योरप में अधिक प्रशंसा होने का कारण जितना उसकी कविता नहीं, उससे अधिक उसके उपकरण, शराब, कबाब, नायिका और निर्जन हैं। व्रजभाषा की कविता का

जितना अंश अश्लीलता के प्रसंग से अशिष्ट बतलाया जाता है, वह फिर भी मानवीय है, आसुरी नहीं, रहा आह भरना, कटाक्ष करना और नीर-भरी गगरी ढरकाना, सो मानवीय सृष्टि में शृंगार का परिपाक नायिकाओं के इन्हीं व्यवहारों, इन्हीं आचरणों, सामाजिक इन्हीं नियमों के आश्रय से हो सकता है। न ब्रजभाषा-काल में अँगरेज़ी सभ्यता का प्रकोप भारतवर्ष में हुआ, न गधे के चित्रण में आर्ट (art) दिखलाने की कवियों को ज़रूरत मालूम पड़ी। यह मैं मानता हूँ कि मानवीय सृष्टि में उस समय अश्लीलता की हद कुछ अधिक हो गई थी, मनुष्यों के नैतिक पतन के कारण।

परंतु मियाँ की दौड़ मस्जिद तक के अनुसार, ब्रजभाषा के कवियों पर वृंदावन, गोकुल, मथुरा और नंदगाँव के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते रहने का जो लांछन लगाया जाता है, उसका मुख्य कारण यह नहीं कि वे राष्ट्र के अष्टावक्र वाद-विवाद से अनभिज्ञ थे। ब्रजभाषा के एक भूषण ने भारतीय राष्ट्र के लिये जो कार्य किया, वैसा कार्य इधर तीन सौ वर्ष के अंदर समग्र भारतवर्ष में अपनी कवित्व-प्रतिभा द्वारा कोई दूसरा कवि नहीं कर सका। प्रचलित रीतियों और अपने जातीय मेरुमूल-धर्म-भावों से प्रेरित होकर एक कृष्ण को ही उन लोगों ने अपनी रस-सृष्टि का मूलाधार-स्वरूप ग्रहण किया, और स्मरण रहे, कृष्ण वह हैं, जिनके पेट में चौदहों भुवन—एक यह पृथ्वी या केवल योरप नहीं—चौदहों भुवन समाए हुए हैं। सर जगदीशचंद्र को जिस दिन एक घोंघे में एक वीक्षण-यंत्र द्वारा आश्चर्य कर अनेक विषय—अनेक सृष्टियाँ दिखलाई पड़ी थीं, उस दिन भारत के महर्षियों के मानसिक विश्लेषण पर श्रद्धा प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा था, जी चाहता है, यह सब वैज्ञानिक विश्लेषण-कार्य छोड़ दूँ, अपने ऋषियों के गौरव की पूजा करूँ। कृष्ण की गोपियों के साथ जो मधुर रसोपासना हुई थी, स्वामी विवेकानंदजी उसके संबंध में कहते हैं, वह इतने उच्च

भावों की है कि जब तक चरित्र में कोई शुकदेव न होगा, तब तक श्रीकृष्ण की रासलीला के समझने का अधिकारी वह नहीं हो सकता। कृष्ण का महान् त्याग, उज्ज्वल प्रेम, गीता में सर्व-धर्म-समन्वय, भारत का सर्वमान्य नेतृत्व, भारतवासियों के हृदय में स्वभावतः पुष्प-चंदन से अर्चित हुआ और वृंदावन का क़तरा ब्रजभाषा के कवियों को दरिया नज़र आया। वासनावाले कवियों ने श्रीकृष्ण की वर्णना में ही अपने हृदय का ज़हर निकाला—इस तरह जहाँ तक हो सका, अपने धर्म को ही वासना से अधिक महत्त्व दिया। कुछ लोगों ने राजों-महाराजों और अपने प्रेम-पात्रों पर भी कविताएँ लिखीं।

एक दिन मैं अपने मित्र श्रीशिवशेखर द्विवेदी को, जब वह हिंदी की मध्यमा-परीक्षा की तैयारी कर रहे थे, सूर की पदावली का एक पद पढ़ा रहा था। इस समय मेरे पास वह पुस्तक नहीं, न वह पद मुझे याद है। अंतिम लड़ी उस पद की शायद यों है—"समझयो सूर सकट पगु पेलत।" इस पद के पढ़ाते समय दर्शन-शास्त्र की सर्वोच्च युक्ति मुझे उसमें दिखलाई पड़ी। उस पद में कहा गया है, बालक श्रीकृष्ण अपना अँगूठा मुँह में डाल रहे हैं, और इससे तमाम ब्रह्मांड डोल रहा है—दिग्दंती अपने दाँतों से दृढ़ता-पूर्वक धरा भार के धारण का प्रयत्न कर रहे हैं। इन पंक्तियों में भक्तराज श्रीसूरदासजी का अभिप्राय यह है कि किसी एक केंद्र के चेतन-स्वरूप से तमाम संसार, संपूर्ण विश्व-ब्रह्मांड के प्राणी गुँथे हुए हैं, इसलिये उसके हिलने से यह सौर-संसार भी हिलता है। दिग्गजों और शेषजी को धारण करने की शक्ति दी गई है, ताकि प्रलय न हो जाय। इसलिये श्रीकृष्ण की मुख में अँगूठा डालने की चेष्टा से हिलते हुए तमाम चेतन संसार को शेष और दिग्गज अपनी धारणा-शक्ति से बार-बार धारण करते हैं। इस चेतन के कंपन-गुण से कहीं-कहीं खंड-प्रलय हो भी जाता है। अस्तु, भारतीय विश्ववाद इस प्रकार का चेतनवाद है, जिसमें अगणित सौर-

संसार अपने सृष्टि-नियमों के चक्र से विवर्तित होते जा रहे हैं। सूर ने चेतन की यह क्रिया समझी, इसीलिये "सकट पगु पेलत"—धीरे-धीरे चल रहे हैं—स्थिर होकर क्रमशः चेतन-समाधि में मग्न होने की चेष्टा कर रहे हैं—साधना कर रहे हैं। हरएक केंद्र में वह चेतन-स्वरूप, वह आत्मा, वह विभु मौजूद है। सूर ने कृष्ण के ही उज्ज्वल केंद्र को ग्रहण किया। तुलसी ने श्रीरामचंद्र के केंद्र को और कबीर ने निर्गुण आत्मा को—बिना केंद्र के केंद्र को। भारत के सिद्धांत से यथार्थ विश्व-कवि यही हैं—कबीर, सूर और तुलसी-जैसे महाशक्ति के आधार-स्तंभ। तुलसी भी—"उदर माँझ सुनु अंडज राया; देख्यों बहु ब्रह्मांड निकाया" से अगणित विश्व की वर्णना कर जाते हैं, और यह भ्रम नहीं—वह ज़ोर देकर कहते हैं—"यह सब मैं निज नयनन देखा।" भारत का विश्ववाद इस प्रकार है। भारत के विश्व कवि जड़ विश्व की धूल पाठकों पर नहीं झोंकते—वह ब्रह्मांडमय चेतन का अंजन उनकी आँखों में लगाते हैं। रवींद्रनाथ का विश्ववाद योरप के सिद्धांत के अनुकूल है, और उनके ब्राह्मसमाजी होने के कारण, उनका विश्ववाद उपनिषदों से भी संबंध रखता है। रवींद्रनाथ का 'विश्व'-प्रयोग अर्थ की दृष्टि से कदर्थ की सृष्टि नहीं करता। परंतु पंतजी "विश्व-कामिनी की पावन छवि मुझे दिखाओ करुणावान्" से, 'विश्व'-शब्द-मात्र से लोगों की नज़र बाँधने की लालसा रखनेवाले जान पड़ते हैं, और अर्थ की तरफ़ से वही—"अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः।" पंतजी की 'विश्व-कामिनी' यदि "विश्व ही कामिनी=कर्मधारय" है, तो कोई सार्थकता नहीं दिखलाती, और यदि "विश्व की कामिनी=छठा तत्पुरुष" है, तो भी कोई अर्थ नहीं देती; विश्व में जितनी कामिनियाँ हैं, सब किसी-न-किसी देश की, किसी-न-किसी समाज ही की हैं, इस तरह सब एकदेशीया हुई; व्यापक विश्व की कामिनी किस तरह की होगी, यह पंतजी ही बतलाएँ।

वर्तमान विश्ववाद व्रजभाषा और भारतवर्ष की तमाम भाषाओं के कवियों में चेतनवाद या वेदांतवेद्य अनंतवाद के रूप में मिलता है। जो लोग यह समझते हैं कि भारतवर्ष के पिछले दिनों में लोगों की बुद्धि संकुचित हो गई थी, और पंतजी के शब्दों में यह कहने का साहस कर बैठते हैं कि व्रजभाषा में कुछ कवियों को छोड़कर प्रायः अन्यान्य और सब कवि एक साधारण सीमा के अंदर ही तेली के बैल की तरह अंध चक्कर काटते चले गए हैं, वे वास्तव में ग़लती करते हैं। मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्ष की उदारता, उसका विशाल हृदय, मुसलमानों से लड़ते-लड़ते प्रतिघातों के फल से धार्मिक संकीर्णता में मृदु-स्पंदित होने लगा था, और उसकी व्यावहारिक पहली विशालता चौके के अंदर आ गई थी। परंतु दार्शनिक लोम-विलोम के विचार से बाहरी आसुरी दबाव के कारण भारतीय दिव्य प्राकृति वाले मनुष्यों का इतना संकुचित हो जाना स्वाभाविक सत्य का ही परिचायक सिद्ध होता है। हरएक मनुष्य, हरएक प्रकृति, हरएक जाति, हरएक देश दबाव से संकोच-रूप धारण करता है। व्रज-भाषा-काल में इस दबाव का प्रभाव जातीय साहित्य में भी पड़ा, और उस काल की हमारी हार हमारी 'कुचित वृत्ति का यथेष्ट परिचय देती है, यह सब ठीक है, परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि वह दबाव आवश्यक था जाति को संकुचित करके उसे शक्तिशाली सिद्ध करने के लिये—शेर जब शिकार पर टूटता है, तब पहले, उसकी तमाम वृत्तियाँ—तमाम शरीर सिकुड़ जाता है, और इस संकोच से ही उसमें दूर तक छलाँग भरने की शक्ति आती है। व्रज-भाषा-काल का जातीय संकोच जिस तरह देखने के लिये बहुत छोटा है, उसी तरह उसने छलाँग भी भराई उससे बहुत लंबी—धर्म के नाम पर इस काल के इतना त्याग शायद ही भारतवर्ष ने दिखाया हो—"Either sword or Quran"-वाले धर्म के सामने हर्ष-विषाद-रहित हो जाति के वीरों ने अपने धर्म-गर्वोन्नत मस्तकों की भेटें चढ़ाईं—एक-

दो नहीं—अगणित सीताएँ और सावित्रियाँ पैदा होकर अपने उज्ज्वल सतीत्व का जौहर दिखलाती गईं—उस संकोच के भीतर से करोड़ों शेर कूदे, आज जिनकी वीरता ब्रज-भाषा-काल के साहित्य के पृष्ठों में नहीं - चारणों के मुखों में प्रतिध्वनित हो रही है, जैसे उस समय की सीमा को वे वीर एक ही छलाँग से पार कर गए, और अपने भविष्य-वंशजों के पैरों में एक छोटी-सी बेड़ी डाल गए—भविष्य के सुधार की आशा से। आजकल के साहित्यिक चीत्कार इसी बेड़ी के तोड़ने के लिये हो रहे हैं—धार्मिक, सामाजिक और नैतिक नादों के साथ-साथ।

जिस तरह धार्मिक छलाँग भरी गई उसी तरह साहित्यिक भी—हमेशा ध्यान रक्खा गया, एक पद्य के अंदर—एक छोटी-सी सीमा में भावों की विशालता ला दी जाय। मथुरा-ब्रज-गोकुल और द्वारिका की छोटी-सी सीमा में पंतजी अकारण भटकते हैं—यह तो कवियों की, भावों के दिव्य-आधार कृष्ण पर की गई, प्रीति है—आप भाव ग्रहण कीजिए, 'श्याम' के नाम से न घबराइए—बड़ा-सा दृश्य चाहते हैं आप?—लीजिए—

"सावन-बहार झूलै घन की घुमंड पर,
घन की घुमंड पौन चंचला के दोले पै;
चंचला हू झूलै घन सेवक अकास पर,
झूलत अकास लाज-हौसले के टोले पै।"

लाज और हौसले के टोले में आकाश झूलता है—समाज और हौसले के आनंद के कपन से तमाम प्रकृति—तमाम आकाश के परमाणु आनंद से काँपते हैं—देखिए चेतन—देखिए सौंदर्य की दिव्य मूर्ति—देखिये आकाश-जैसे बड़े को लाज-जैसी छोटी-सी सखी के टोले में झुला दिया—कितने बड़े को कितने छोटे में।

नारियों या नायिकाओं के भेद, रसों के भेद अलंकारों—भूषणों के भेद, छंदों के भेद, ध्वनियों की परख कविता-साहित्य का विश्लेषण जहाँ तक

हो सकता है -- आर्य-भाषाओं के किए हुए उन उपायों के अनुसार, ब्रज-भाषा के काव्य-साहित्य ने सब भेदों पर लिखा, और ख़ूब लिखा। क्या कविता-साहित्य का इतना सुंदर विश्लेषण संसार की किसी आर्येतर भाषा ने किया ? पंतजी, क्या आप शराब, कबाब और बग़ल में बीबी-वाले कवियों को अश्लील न कहेंगे ? यदि कहते हैं, तो योरप का एक प्रसिद्ध कवि निकालिए, जो इन दुर्गुणों से बचा हो, और शृंगार की कविता में बाज़ी मार ले गया हो। ब्रज-भाषावालों ने तो फिर भी कृष्ण-जैसे शृंगार-रस के महापुरुष की आड़ में— उस मदन को मूर्च्छित कर देनेवाले कामजित् आदर्श की शरण में अपनी वासनाओं को चरितार्थ किया—यह क्या योरप की कविता के बालडांस् से भी गया-बढ़ा हो गया ?

योरप की कविता के जो अच्छे गुण हैं, मैं उनका हृदय से भक्त हूँ, उनकी वर्णनाशक्ति स्वीकार करता हूँ; परंतु यह उन्हीं की दृष्टि से, तुलनात्मक समालोचना द्वारा नहीं। जिस दिन हिंदोस्तान में अपने पैरों खड़े होने की शक्ति आएगी—वह स्वाधीन होगा – उस दिन तक योरप के इन भावों की क्या दशा रहती है, हम लोग दस-बीस जीवन के बाद देखेंगे। दुःख है, उस समय मुझे और पंतजी को आलोचना की ये बातें याद न रहेंगी। ब्रज-भाषा के पक्ष की अनेक बातें, अनेक उदाहरण, प्रासंगिक होने पर भी, लेख-वृद्धि के भय से छोड़ दिए गए। मैं यहाँ केवल इतना ही कहूँगा कि ब्रज-भाषा के कवियों ने सौंदर्य को इतनी दृष्टियों से देखा है कि शायद ही कोई सौंदर्य उनसे छूटा हो—शायद ही किसी दूसरी जाति ने अपने सुख के दिन इतनी आवारगी में बिताए हों, और वह जाति जाग्रत् होने के बदले काल के गर्भ में चिरकाल के लिये विलीन न हो गई हो।

शब्दों के चित्र पर अब कुछ लिखना आवश्यक है। पंतजी लिखते हैं—'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल-कंपन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर

गिरना, 'बढ़ो-बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची-ऊँची बाहें उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है। 'पंख' शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिये भारी लगता है; जसे किसी ने पक्षी के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटाकर बार-बार नीचे गिर पड़ता हो, अँगरेज़ी का (wing) जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'touch' में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती। 'स्पर्श' जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता है, उसका चित्र है; ब्रज-भाषा के परस में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है; 'joy' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, हर्ष से उसी प्रकार आनंद का विद्युत्-स्फुरन् प्रकट होता है। अँगरेज़ी के 'air' में एक प्रकार की 'transparency' मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखलाई पड़ती हो; 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छनकर आ रही हो; 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फ़ीते की तरह खिंचकर, फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है, 'प्रभंजन' 'wind' की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्रों को उड़ाता हुआ बहता है; 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती, 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है, जैसे हवा रुक गई हो, 'प' और 'न' की दीवारों से घिर-सा जाता है, 'समीर' लहराता हुआ बहता है।"

पंतजी की इस छान-बीन का ही फल है कि उनके तपे हुए हृदय के श्वेतकमल पर कविता की ज्योतिर्मयी मूर्ति खड़ी हुई। उनकी दृष्टि की तृष्णा आकर इस व्याख्या से बहुत अच्छी तरह प्रकट हो रही है। रूप का अन्वेषण करती हुई उसने अरण्य, पर्वत, खोह और कंदराएँ कुछ

भी नहीं छोड़ा। शब्दों के रूपों को उनकी दृष्टि की करुण प्रार्थना से आना ही पड़ा। उनके स्वर के प्राणायाम ने आकर्षण-मंत्र सिद्ध कर दिखाया। उनकी दृष्टि ने शब्दों के रूपों का अमृत पिया।

परंतु यहाँ भी भारतीय शब्दों की भारतीय व्याख्या उनके इस अन्वेषण से प्रतिकूल चल रही है। बँगला के रवींद्रनाथ और अँगरेज़ी के शेली पंतजी की व्याख्या से, अपने दल की पुष्टि के विचार से प्रसन्न होंगे। परंतु भारतवर्ष के आचार्य और कवि नाराज़ होंगे। इसी विषय पर यहाँ के आचार्यों ने दूसरी तरह से व्याख्या की है। पंतजी की व्याख्या से ज़ाहिर है, उनका झुकाव अँगरेज़ी-शब्दों के तत्सम रूपों की ओर अधिक है, और यह प्रयत्न ऐसा है, जैसे भारतवर्ष की आबोहवा को अँगरेज़ी दवाओं के अनुकूल करना।

भारतवर्ष के शब्दों के चित्र पहले से तैयार किए हुए हैं। धातु-रूप से उनके चित्र निकाले जा चुके हैं। जैसा पंतजी कहते हैं, touch में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती; वहाँ एक विशेष बात है, जिसकी ओर, अपने संस्कारों के वश, पंतजी ध्यान नहीं दे सके। toucb के छूने की क्रिया पर विचार कीजिए, 't' से जीभ मूर्द्धा स्पर्श करती है, फिर 'अच्' (ouch) से स्वर-वायु भीतर से निकलकर जैसे बाहर की किसी वस्तु को छू जाती हो, इस तरह 'touch' से स्पर्श की क्रिया उच्चारण द्वारा होती है। 'स्पर्श' में जो छूने की क्रिया है, वह 'touch' से और सुंदर और मधुर है। यों तो यहाँवाले 'स्पृश' का ही अपभ्रष्ट रूप 'touch' (टच् या टश्) हुआ है, कहेंगे। 'स्पर्श' की 'स्पृश्'-धातु की क्रिया देखिए—

'स्' दंतों को स्पर्श कर, 'प' द्वारा ओष्ठों को—शरीर के सबसे अंतिम उच्चारण-स्थल तक पहुँचकर—स्पर्श करता है, फिर 'ऋ' द्वारा स्वर-शक्ति अंतर्मुखी होती है. जैसे उस स्पर्श का संवाद देने के लिये, 'श' से तालु स्पर्श करती हुई 'स्पर्श' की कोमलता का अनुभव करा जाती है

तालु से उच्चरित होनेवाले अक्षर कोमल हैं। पंतजी जो यह लिखते हैं कि 'स्पर्श', जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच होता है, उसका चित्र है, यह विचार वह बहिर्दृष्टि से कर रहे हैं—उनका यह स्पर्श बाहर से होता है, जो भारतीय शब्दों की विचारणा-प्रणाली की अनुकूलता नहीं करता। 'touch' के समर्थन से उनके विचार बाह्य हो जाते हैं - 'touch' से बाहर की वस्तु के छूने की क्रिया होती है। चूँकि भारतीय समस्त विचार अंतरात्मा से संबंध रखनेवाले अतरात्मा को ही रूप, रस, गंध और शब्द-स्पर्श से सुखी करनेवाले होते हैं, इसलिये 'स्पर्श' होठों से बाहर नहीं जा सका, जैसे सब क्रिया अपने ही भीतर हुई. और उसका फल भी अपने ही भीतर मिल गया। पंतजी का 'touch' का विचार भी बाह्य है और स्पर्श का भी। अंत में जो वह कहते हैं, 'परस' में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है, यह सिर्फ ख़याल है।

गोस्वामी तुलसीदासजी का एक उदाहरण पंतजी ने भी दिया है--

"घन घमंड गरजत नभ घोरा।"

इन शब्दों में एक भी शब्द ऐसा नहीं, जो अपना विशेष अर्थ न रखता हो। इन तमाम शब्दों के एक साथ उच्चारण से बादलों की गर्जना जैसे हो रही हो—ग. घ. ड. भ. का कोई-न-कोई प्रत्येक शब्द में आया है। फिर—

"प्रिय-विहीन डरपत जिय मोरा।"

प्रिया के वियोग से क्षीण प्रियतम के हृदय का भय 'डरपत' क्रिया के चित्र-फल से प्रकट किया गया। एक ओर मेघों में प्रकृति का उत्कट उत्पात, दूसरी ओर विरह-कृश पति के हृदय में भय, घबराहट। एक ओर विराट् दूसरी ओर स्वराट्। एक ओर उत्पात, दूसरी ओर उसकी क्रिया। एक ओर कठोर, दूसरी ओर करुण, कितना सुंदर निबाह है।

इस प्रसंग में मैं और अधिक उद्धरण न दूँगा। केवल इतना ही कहना चाहता हूँ; यहाँ के शब्दों से, यहीं के प्रचलित अर्थ के अनुकूल, काम लेना ठीक है। पंतजी अपनी कल्पना में पड़कर कितना बड़ा अनर्थ करते हैं, देखें—

"हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत दल-बल-युत घुस वातुल चोर"

अपनी इन पंक्तियों के संबंध में पंतजी लिखते हैं—"इसमें लघु अक्षरों की आवृत्ति ही वातुल-चोर के दल-बल-युत घुसने के लिये मार्ग बनाती है।

पहला एतराज़ यह है कि दल-बल-युत आदि शब्दों की आवृत्ति यदि घुसने के लिये मार्ग बनाती है, तो सफ़रमैना की पलटन की तरह वह अर्थ की लड़ाई में काम भी न देती होगी। तुलसीदासजी की उ[illegible]त चौपाइयों में देखा गया—शब्द गरजते और काँपते हैं, और अपने अर्थ के फाटक की रक्षा भी करते हैं।

दूसरा यह कि चोर यदि वातुल है, वात-ग्रस्त है, पागल है, तो उड़ा ले जाने की बुद्धि से रहित है, क्योंकि विकृत-मस्तिष्क है।

तीसरा यह कि मेघ को उड़ाने का कार्य वायु ही करता है, बिना किसी सहायक के अकेला। यदि उसके इस उड़ाने के कार्य में और-और सहायक आते हैं, जिससे 'दल-बल-युत' के अर्थ की पुष्टि होती है, तो पंतजी बतलाएँ, उसके ये सहायक और कौन-कौन-से हैं।

चौथा यह कि यदि 'वात-चोर' के कर्मधारय का रूप 'वातुल-चोर' बना है—'वात'-शब्द विशेषण के रूप में 'वातुल' कर दिया गया है, तो यह भारतवर्ष के किस प्रदेश के व्याकरण के अनुसार सिद्ध होगा, जिससे हमें विश्वास हो जाय, 'वातुल-चोर' द्वारा वात या वायु के चोर होने का अर्थ सिद्ध होता है।

अब यहाँ से मैं पंतजी के 'प्रवेश' की आलोचना समाप्त करता हूँ,

यद्यपि उनके लिखे हुए अभी बहुत-से विषय ऐसे रहे जा रहे हैं, जिन पर कुछ-न-कुछ लिखना आवश्यक था।

अब मैं पंतजी की कविताओं के निबाह पर कुछ लिखना चाहता हूँ। 'पल्लव'-पुस्तक में उनकी कविता 'पल्लव'-शीर्षक पद्य से शुरू होती है—श्रीगणेश इस तरह होता है —

"अरे, ये पल्लव-बाल !
सजा सुमनों के सौरभ-हार
गूँथते वे उपहार;
अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल,
नहीं छूटी तरु - डाल;
विश्व पर विस्मित चितवन डाल,
हिलाते अधर-प्रवाल।"

पहले इन दोनो पंक्तियों को देखिए—

"अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल,
हिलाते अधर-प्रवाल !"—

'प्रवाल'-शब्द दो बार आया है, एक बार तो पल्लवों को ही उन्होंने नवल-प्रवाल कहा, फिर पल्लवों के अधरों में प्रवाल जड़ दिए ! अर्थ हुआ, प्रवाल-पल्लव अपने अधर-प्रवालों को हिला रहे हैं !—इस तरह उपमान-उपमेय का निर्वाह सार्थक नहीं हो सका। दूसरे, 'हिलाते अधर-प्रवाल' का भाव-चित्र बड़ा ही विचित्र है। मैं जब इसे पढ़ता हूँ, मुझे 'पंजाब-थिएट्रिकल्स' के उस 'जोकर' की याद आती है, जो बड़े-बड़े अक्षरों के साइनबोर्ड के नीचे एक ऊँची टेबिल पर, कार्नेट और ड्रम की ताल पर थिरकता हुआ दर्शकों को देख-देखकर मुँह बनाता, और अपने पौडर-चर्चित चेहरे के मुक्ताकार तबक को अपनी विचित्र मुख-भंगियों द्वारा हिलाता रहता है। इस पद्य के साथ उस 'जोकर' का मेरी प्रकृति में इतना घनिष्ठ संबंध हो गया है, जिसका भूलना मेरे लिये असंभव हो रहा है।

पंतजी सोचें, उन्हीं के सामने यदि कोई खड़ा होकर अधर-प्रवाल हिलावे, तो हँसेंगे या नहीं। इससे हास्य के सिवा कोई सौंदर्य तो नहीं मिल सकता।

यों दो बार प्रवाल का आना ही उनकी कविता में दोषकर हो गया है, परंतु यदि पहला प्रवाल छोड़ दिया जाय, तो दूसरा प्रवाल भी ऐसा नहीं कि भाव-चित्र का अच्छा निर्वाह कर सके।

यह सारा दोष 'हिलाते' का है। 'हिलाते' का प्रयोग ऐसे स्थलों में अच्छा नहीं होता। दो वाक्य देखिए--

"वे अधर-प्रवाल हिला रहे हैं"
"उनके अधर-प्रवाल हिल रहे हैं"

दूसरे वाक्य में सौंदर्य पहले वाक्य से कितना बढ़ गया है। पंतजी की इधर की कविता में एक जगह मैंने देखा--

"झलका हास कुसुम-अधरों में
हिल मोती का-सा दाना।"

यहाँ हास फूलों के अधरों पर मोती के दाने की तरह आप ही हिलता है, हिलाया नहीं जाता, अतएव सुंदर है।

"बजा दीर्घ-साँसों की भेरी,
सजा सटे-कुच कलशाकार;
पलक-पाँवड़े बिछा, खड़े कर,
रोवों में पुलकित-प्रतिहार;
बाल-युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के बंदनवार;
देव! तुम्हारा स्वागत करतीं,
खोल सतत उत्सुक-दृग-द्वार।"

इस पद्य में 'बजा', 'सजा', 'तान' आदि क्रियाएँ वैसी ही हैं। कलशाकार सटे कुचों को सजाना सौंदर्य की अभिव्यक्ति में सहायक होता है, और स्त्रियों के लिये कुचों का शृंगार करना प्रचलित भी है, इस दृष्टि से बुरा नहीं हुआ, परंतु दीर्घ साँसों की भेरी बजाना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। यहाँ अवश्य 'ऊँटख़ाने का मुंशी' 'मुंशीख़ाने का ऊँट' नहीं हुआ, यह ज़रूर है कि पंतजी नारी-सौंदर्य के दिव्य भाव पर सफल नहीं हो सके। उनकी ऐसी अनेक पंक्तियाँ हैं—जिनमें दिव्य भाव की जगह बहुत साधारण भाव मिलते हैं—

"खैंच ऐंचीला - भ्रू - सुरचाप,
शैल की सुधि यों बारंबार,
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल-हार।
जलद-पट से दिखला मुख-चंद्र,
पलक पल-पल चपला के मार;
भग्न-उर पर भूधर-सा हाय !
सुमुखि ! धर देता है साकार !"

यहाँ जब शैल की सुधि हरियाली का सुदुकूल हिलाती, झरनों का झलमल-हार झुलाती है, उस समय स्वर्गीय सौंदर्य वेश्या के सौंदर्य में परिणत होता—बहुत हल्का हो जाता है, जैसे कोई वेश्या दूसरे को मुग्ध करने के लिये वेश-न्यास कर रही हो। यहाँ यदि हार आप झूलता, दुकूल आप हिलता, तो सौंदर्य दिव्य कहलाता। जलद-पट से मुख-चंद्र दिखलाना झरोखे से किसी चंचला नायिका का झाँकना हो गया है—अच्छा होता, यदि उसी तरह जलद-पट से मुख-चंद्र आप दिखलाई पड़ता।

सौंदर्य जिस ढंग का यहाँ चित्रित हुआ है, उसके प्रवाह में फ़र्क़ नहीं, कविता की दृष्टि से वह प्रथम श्रेणी की कविता हुई है, यह प्रत्येक

समालोचक स्वीकार करेगा। आर्ट के विवेचन से तो पंतजी ने कमाल कर दिया है। 'खैंच' और 'ऐंच', 'हिला' और 'हरियाली', 'झुला' और 'झरनों का झलमल', 'पलक' और 'पल-पल', अनुप्रासों की सार्थकता के साथ, अर्थ को उतना ही मधुर कर देते हैं।

अंतिम दो लाइनें अच्छी नहीं, कम-से-कम 'साकार' को तो जरूर निकाल देना चाहिए। साकार यहाँ निरर्थक है, वल्कि अर्थ में एक कदर्थ लाता है।

'उच्छ्वास' में जहाँ आया है—

"गिरिवर के उर से उठ-उठकर,
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर;
हैं झाँक रहे नीरव-नभ पर,
अनिमेष, अटल कुछ चिंतापर !"

यहाँ निर्वाह अच्छा नहीं हुआ, पहाड़ के हृदय से उठकर पेड़ आसमान पर झाँकते हैं, ठीक नहीं; वाक्य ही असंगत है। आसमान की ओर झाँकते हैं, यह भी ठीक नहीं; झाँकने के लिये पहले तो एक झरोखे का चित्र चाहिए, जिसका इन 'क्तियों में अभाव है। फिर झाँकनेवाले को दृश्य से ऊपर रहना चाहिए, नीचे से ऊपर की ओर झाँका नहीं जाता; पेड़ नीचे हैं, आसमान ऊपर है, नीचे से ऊपर की ओर पेड़ क्या झाँकेंगे ? अपरंच, झाँकना चंचलता का द्योतक है, झाँकते समय पेड़ों को अनिमेष, अटल और चिंता पर बतलाना प्राकृतिक सत्य की प्रतिकूलता करना है। यदि कोई कहे, 'नभ पर' यानी 'नभ की गोद में रहकर', तो भी अन्यान्य विरोधों से संगति ठीक नहीं बैठती। अतएव ये पंक्तियाँ असफल हैं। इनके बाद पतजी लिखते हैं—

"उड़ गया, अचानक, लो, भूधर;
फड़का अपार पारद के पर !
रव-शेष रह गए हैं निर्झर !
है टूट पड़ा भूपर अंबर !

धस गए धरा में सभय शाल !
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल !
यों जलद-यान में विचर-विचर,
था इंद्र खेलता इंद्रजाल !"

पंतजी शायद इन्हीं पंक्तियों के संबंध में लिखते हैं—"इसके बाद प्रकृति-वर्णन है, उसमें निर्झरों का गिरना, दृश्यों का बदलना, पर्वतों का सहसा बादलों के बीच ओझल हो जाना आदि-आदि अद्भुत रस का मिश्रण है।" पंतजी को इन पंक्तियों में 'अद्भुत-रस का मिश्रण' पहाड़ के लोगों के लिये अद्भुत-रस नहीं।

इन पंक्तियों में अद्भुत-रस का परिपाक बराबर भूमि पर रहने-वालों के लिये अच्छा हुआ है; पर रस ऐकदेशिक नहीं होता।

पहले एक जगह मैंने लिखा है, मौलिकता का विवेचन आगे चल-कर करूँगा। यहाँ थोड़ी देर के लिये पंतजी की कविताओं की आलो-चना स्थगित करता हूँ। पंतजी ने दूसरी-दूसरी जगहों से जो अच्छे-अच्छे भाव लिए हैं, यह कहा जा चुका है कि इस तरह के भावापहरण के अपराध में, बड़े-से-बड़े प्रायः सभी कवि दोषी हैं। जब कोई आलो-चक ऐसे अपराध के कारण की जाँच करता है, तब उसे उस कारण के मूल में एक प्रकार की कविता के ही दर्शन होते हैं। वह देखता है, जिन भावों को ग्रहण करने के लिये वह कवि पर दोषारोप कर रहा था, वे भाव कवि की हृदय-भूमि में बीज-रूप आप ही जम गए थे। उत्त-मोत्तम भावों के ग्रहण करने की शक्ति रस-ग्राही कवि-हृदय में ही हुआ करती है। जिन भावों को वह प्यार करता है, वे चाहे दूसरे के ही भाव हों, उसकी सहृदयता से धुलकर नवीन युग की नवीन रश्मि से चमकते हुए फिर वे उसी के होकर निकलते हैं। चोरी का अपराध लगाना जितना सीधा है, चोरी करना उतना सीधा नहीं। इस सत्य को

कोई जब चाहे, आज़मा सकता है। उदाहरण-स्वरूप, हिंदी के किसी प्रसिद्ध लेखक को किसी प्रसिद्ध कवि की कुछ 'क्तियाँ हज़म कर जाने के लिये दे दीजिए। मैं कहता हूँ, उन्हें सफलता हर्गिज़ न होगी। वे किसी तरह उन पंक्तियों को कै भले ही कर डालें, पर अपनी तरफ़ से वे एक भी स्वस्थ पंक्ति न लिख सकेंगे। यहीं कवि-हृदय की मौलिकता का आभास मिलता है। 'चीरा तो एक क़तरए-खूँ न निकला' को चरितार्थ करने वाले आजकल के छायावाद अंधकार में बेलगाम घोड़ा छोड़कर गोल तक पहले पहुँचने के इच्छुक पाँ..ें सवार कवियों की श्रेणी से अलग, पंतजी साहित्य के एक अलंकृत उज्ज्वल आसन पर स्थित हैं। उनकी सहृदयता के स्पर्श से उनके शब्दों में एक अजीब जीवन आ गया है, जो साहित्य का ही जीवन है, जो किसी तरह भी नहीं मर सकता। उनकी आत्मा और साहित्य की आत्मा एक हो गई है। शब्दों को जिस सहृदय-दृष्टि से उन्होंने देखा है, अपनी रुचि के अनुसार उनमें जो परिवर्तन किए हैं, वही उनकी मौलिकता है। जब मैं पढ़ता हूँ—

"जननि श्याम की वंशी से ही
कर दे, मेरे सरस वचन;
जैसा-जैसा मुझको छेड़ें,
बोलूँ अधिक मधुर मोहन।
जी अकर्ण अहि को भी सहसा
कर दे मंत्र-मुग्ध नत-फन;
रोम-रोम के छिद्रों से मा,
फूटे तेरा राग गहन।"

तब इन पंक्तियों में एक साफ़ आइने की तरह मुझे पंतजी का हृदय दिखलाई पड़ता है। कहने का ढंग भी कितना मार्जित, कितना अच्छा! बिना कानवाले सर्प-साहित्यिक को नवीन युग का कवि

मुग्ध करना चाहता है, इसलिए कहता है, मेरे शब्दों को, मा, तू वंशी की सुरीली तान की तरह मधुर कर, जो विना कान वाले साँप को सहसा मंत्र-मुग्ध और अवनत-फन कर दे। अपने लिये भी कहा है, व मुझे वंशी की तरह जितना ही छेड़ें, मैं और मधुर बोलूँ। निसंदेह, हृदय के एसेंस के विना केवल हाथ की सफाई दिखलानेवाला कवि इतने सुंदर ढंग से नहीं कह सकता, और यही पत जी की मौलिकता है। एक ही अर्थ को अनेक वाक्यों में, तरह-तरह के शब्दों में प्रकट करने की जो शक्ति कवि के लिए आवश्यक हैं, वह भी पंत जी में है। वह कुशाग्र-बुद्धि और नाजुक-अंदाज कवि हैं। उन की इस पंक्ति से—

'उर के दिव्य नयन, दो कान'

जान पड़ता है, हृदय की पहचान उन्हें हो गई है। उन्हें साहित्यिक स्वतंत्रता प्राप्त रहनी चाहिये। यदि कोई इससे इनकार करेंगे, तो इस तरह वे साहित्य-महारथी स्वयं ही अपनी प्रतिष्ठा घटाएँगे। पंत जी की सहृदयता उन्हें उनका अधिकार दिलाएगी। पंतजी के मंडन में मैं बातों-ही बातों बहुत बहस कर चुका हूँ, जिसे मेरे मित्र जिनसे मुकाबला आन पड़ा है, अच्छी तरह जानते हैं। प्रायः अधि-कांश लोगों ने 'प्रभात' को स्त्रीलिंग मानने के संबंध में प्रश्न किया। मैं सबसे यही कहता गया कि भइ, उसके पीछे एक 'श्री' अपनी तरफ से जोड़ लो, अगर तुम्हें यह खटकता है। कविता खुद स्त्रीलिंग है। उसकी स्त्री सुकुमारता में आकर्षण विशेष रहता है। पाठक प्रायः खिच जाते हैं। भाव को रूप देने के वक्त कवि जिस रूप से प्रभावित रहता है, प्रायः वही रूप वह भावों को देता है। कोमलता लाने के लिये स्त्री-रूप की कल्पना से बढ़कर और कौन-सी कल्पना होगी? भावों के अलावा पंतजी ने अपने को भी स्त्री-रूप में कल्पित कर लिया है। यह भी उनकी मौलिकता ही है। हिंदी के

निष्ठुर शब्दों को इसीलिये वे इतना सरस कर सके हैं। इसके अतिरिक्त उनकी मौलिकता के साथ नवीन युग की प्रतिभा भी सम्मिलित है।

भाषा की प्रथम अवस्था के कारण इतने कोमल होकर भी 'पल्लव' में कहीं-कहीं जो परिवर्तन पंतजी ने किए हैं, उन्हें देखकर यह अनुमान दृढ़ हो जाता है कि अब तक शब्दों के कोमल रूपों पर उनकी दृष्टि स्थिर नहीं बैठ सकी; क्योंकि अपने ही गढ़े हुए स्वरूप को, दुबारा पल्लव में छपने के समय, उन्होंने बिगाड़ दिया है। एक उदाहरण पेश करता हूँ। सरस्वती में छपने के समय उनकी 'स्वप्न'—कविता में एक जगह था—

"नयन-नीलिमा के लघु नभ में
यह किस सुखमा का संसार
विरल इंद्र-धनुषी-बादल-सा
बदल रहा है रूप अपार ?"

पल्लव में छपा है—

"नयनों के लघु-नील-व्योम में
अलि किस सुखमा का संसार
विरल इंद्र-धनुषी-बादल-सा
बदल रहा निज रूप-अपार ?"—

"नयन-नीलिमा के लघु नभ में" जितना अच्छा है, "नयनों के लघु-नील-व्योम में" उतना अच्छा नहीं, यद्यपि दोनों के अर्थ में फ़र्क कोई नहीं। 'सरस्वती' मेरे पास नहीं है, बाद का जो परिवर्तन है, वह पहले ही-सा रक्खा गया है या परिवर्तन के रूप में, मैं ठीक तौर से न कह सकूँगा। 'है' के प्रति जैसी उदासीनता 'पल्लव' के प्रवेश में पंतजी ने प्रकट की है, जान पड़ता है, उसे निकालने के लिये 'पल्लव' में छपने के समय उन्होंने उस जगह 'निज' बैठा दिया है। 'यह' की जगह

'अलि'-शब्द आया है। इनसे विशेष कुछ बना-बिगड़ा नहीं। बहुत बारीक विचार करने पर प्रथम पद्य में सरसता ज्यादा मिलती है, क्योंकि उसमें एक स्वाभाविक विकास है। इस तरह के और भी बहुत-से परिवर्तन पंतजी ने किये हैं, जो प्रायः बिगड़ ही गए हैं। उनके आँसू में पहले यह था—

"वर्ण-वर्ण है उर की कंपन,
शब्द-शब्द है सुधि की दंशन,"

फिर 'पल्लव' में छपा—

"वर्ण-वर्ण है उर का कंपन,
शब्द-शब्द है सुधि का दंशन,"

पहले 'कंपन' और 'दंशन' स्त्रीलिंग में थे, फिर पुंलिंग में हो गए। मुमकिन है, परिवर्तन के समय पंतजी में पुरुषत्व का जोश बढ़ गया हो, वह अपनी स्त्री-सुकुमारता भूल गये हों। मुझे तो पहला ही रूप अच्छा लगा है। इन उद्धरणों से जान पड़ता है कि अभी वह एक निश्चित सिद्धांत पर नहीं पहुँचे। अथवा अभी उन्हें कभी यह अच्छा और कभी वह अच्छा लगता है। मौलिकता के प्रश्न पर बारीक छान-बीन होने पर, निश्चय है, ब्रह्म ही हर सृष्टि के मूल में दृष्टिगोचर होगा; तथापि विकास के विचार से, पंतजी का विकास हिंदी-साहित्य में बड़ा ही मधुर और बड़ा ही उज्ज्वल हुआ है। जब मैं पढ़ता हूँ—

"कामनाओं के विविध प्रहार
छेड़ जगती के उर के तार;
जगाते जीवन की झंकार
स्फूर्ति करते संचार;
चूम सुख-दुख के पुलिन अपार
छलकती ज्ञानामृत की धार!"—

ब्रह्मवाद की एक उत्कृष्ट कविता मेरी नज़र से गुज़र जाती है, और मैं इसके कवि को उसी क्षण हृदय का सब कुछ दे डालता हूँ। 'पल्लव' में छपी हुई पंतजी की प्रायः सभी कविताओं में जीवन है, परंतु उनमें 'परिवर्तन' मुझे ज्यादा पसंद है। मेरे विचार से 'परिवर्तन' किसी भी बड़े कवि की कृति से निस्संकोच मैत्री कर सकता है।

ये बातें मैं तब कहता हूँ, जब पंतजी की ही तरफ़ से उनकी आलोचना करता हूँ। जब मैं अपने विचार भी उनकी कृति में लड़ाता हूँ, तब उसकी प्रायः प्रत्येक पंक्ति में मुझे कुछ-न-कुछ अनार्यता मिल जाती है। इसका असर मुझ पर नहीं पड़ता। जहाँ तक अच्छी चीज़ मिलती है, वहाँ तक 'गुण-दोष-मय' विश्व के दोषों से बचना ही श्रेयस्कर है। एक बार पंतजी ने मुझे लिखा था—"आप केवल मेरी तारीफ़ किया करते हैं, मेरे दोषों से मुझे परिचय नहीं कराते।" उस समय कुछ साधारण दोषों से उल्लेख कर मैंने उन्हें लिखा था, आपकी कविता से मुझे आनंद मिलता है, अतएव आनंद को छोड़ निरानंद के विषय को चुनना प्रकृति के ख़िलाफ़ हो जाता है— प्रकृति कभी आनंद छोड़ना नहीं चाहती। जिन लोगों को पंतजी की कविता पसंद नहीं आई, जो लोग कई साल तक 'निराला' को गालियाँ देने में ही अपने पत्र की सफलता समझते रहे हैं, उनका बहुत बड़ा दोष नहीं, क्योंकि उनकी आत्मा ने उन्हें जैसी सलाह दी, उन्होंने किया। अस्तु, यहाँ मैं केवल यही दिखलाना चाहता हूँ कि किस तरह हरएक कृति में विकार रहता है—चाहे वह कालीदास की हो या श्रीहर्ष की, रवींद्रनाथ की हो या ईट्स की अथवा पंतजी की हो या 'निराला' जी की, अवश्य कबीर की या तुलसी की नहीं,—वाल्मीकि की या व्यास की नहीं, जिन्होंने आत्म-दर्शन के पश्चात् शुद्ध और प्रबुद्ध होकर 'एकमेवाद्वितीयम्' की आज्ञा मानकर रचनाएँ की हैं। मानवीय सुंदर कृति में विकार प्रदर्शन का उदाहरण रवींद्रनाथ और कालिदास से न देकर पंतजी को ही

उद्धृत करना उचित है। उसी 'परिवर्तन' में एक जगह है—

"सकल रोओं से हाथ पसार,
लूटता इधर लोभ गृह-द्वार।"

ज़रा साहित्यिक निगाह से देखिये, 'लोभ' के साथ 'लूटने' की क्रिया कितनी असंगत है। 'लोभ' बेचारे में लूटने की शक्ति कहाँ?— वह तो हड़पता है, जटताहै, ठगता है, धोखा देता है, ऐंठता है, पर लूटता नहीं, और अगर लूटता है, तो वह 'लोभ' भी नहीं। 'लोभ' की ललचीली निगाह में लूटने का विप्लव, वह शक्ति कहाँ? फिर 'हाथ-पसार' कर लूटा नहीं जाता, भीख ज़रूर मांगी जाती है। यदि कोई कहे, 'लूटने' का अर्थ 'जटना' या 'ऐंठना' भी होता है, व्यंग्य में, जैसे लुट गए या ठगा गए, उनसे यह एतराज़ है कि इस तरह तमाम कविता का बीसवीं सदीवाला जोश गायब हो जाता है—तमाम कविता जैसे बिना मेरुमूल के शिथिल हो गई हो। व्यंग्यार्थ के लेने से फिर वह भी व्यंग्य-चित्र की ही तरह दिखने लगती है। इस तरह की व्यंजना हिंदो-स्तानी दिमाग़ के बेचारे वृद्ध साहित्यिक क्यों समझने लगे? उनके सनातन-धर्मी गले की मँजी हुई परिचित रागिनी में ये लड़ियाँ आती ही नहीं—बेचारे करें क्या?

यह कहा जा चुका है, यदि पंतजी की मौलिकता एक शब्द में कही जाय, तो वह मधुरता है। हिंदी में मौलिकता का बहुत बड़ा रूप उनके अंदर से नहीं प्रकट हुआ, कारण छानबीन में मौलिकता का बहुत बड़ा हिस्सा—प्रायः सर्वांश—दूसरे के ही हक़ में चला जाता है; परंतु फिर जो कुछ भी उनके लिये रह जाता है, निहायत सुंदर, बिल-कुल उन्हीं का है। पहले मेरा विचार था कि 'पल्लव' के 'प्रवेश' के चुने हुए कुल विषयों पर लिखूँगा। इस तरह करीब-करीब ३० विषय मैंने चुने थे। परंतु प्रायः आठ ही विषयों में लेख ने इतना बड़ा

आकार ग्रहण कर लिया है। अब कुल विषयों पर लिखकर अकारण श्रम करने से जी ऊब रहा है। इस आलोचना में जहाँ-जहाँ मुझे पंत जी का विरोध करना पड़ा है, उस-उस स्थल के अप्रिय सत्य के लिये मुझे हार्दिक दुःख है। मैं जानता हूँ, एक मार्जित सुहृद् पर मैंने तलवार चलाई है। आलोचना लिखने से पहले मेरे बिलकुल दूसरे विचार थे। दोष-दर्शन के लिये कभी किसी को प्रयत्न नहीं करना पड़ता, कृति के सामने आते ही गुण और दोष भी सामने आजाते हैं। पहले एक बार और पंतजी के संबंध में मैंने 'मतवाला' में लिखा था, उस समय भी उनके दोषों के रूप मेरे सामने आ चुके थे, परंतु मैंने उनका उल्लेख नहीं किया। पं० बालकृष्ण जी शर्मा 'नवीन' को अवश्य स्मरण होगा, जब 'भावों की भिड़ंत' में 'भावुक' महाशय ने मेरी चोरियां दिखलाई थीं, उसके बाद जब 'नवीन' जी से मेरी मुलाकात हुई, पंतजी के संबंध में मैंने उनसे क्या कहा था। यह साहित्य है, यहाँ कमजोरियों का बहुत स्पष्ट उल्लेख मेरे विचार से अनुचित है, उसी तरह कहीं कुछ भलाई करके इनाम की प्रार्थना भी हास्यास्पद है। अतएव, बहुत-सी बातों को मुझे दबा रखना पड़ा। यहाँ इतना ही कहना चाहता हूँ कि 'पल्लव' में मेरी कविता पर कुछ लिखने से पहले उचित था कि पंतजी मेरी भी सलाह ले लेते, जब कि वह मेरे मित्र थे, और इस सलाह से उनके व्यक्तित्व को किसी तरह नीचा देखना पड़ता, यह तो मैं अब तक भी सोचकर नहीं समझ सका। व्यावहारिक संसार में यद्यपि १००० में ६६६ इस तरह के दृष्टांत मिलते हैं कि लोग और सब तरह की कमजोरियाँ स्वीकार करने के लिये तैयार हैं, परंतु बुद्धि की स्पर्द्धा में कोई भी अपने को घटकर नहीं समझता, चाहे वह महामूर्ख ही क्यों न हो, तथापि, पंतजी जैसे मार्जित मनुष्य से मित्रता का एक निहायत साधारण व्यवहार पूरा न होगा, मुझे पहले यह आशा न थी। उन्हें कमज़ोर सिद्ध करने के अपराध में मैं उनसे क्षमा-प्रार्थना

करता हूँ, यद्यपि यह अपराध कवियों के लिये साधारण अपराध है। उनके अपराध की गुरुता को मैं सिर्फ इसलिये नहीं सहन कर सका कि प्रतिभा के युद्ध में उन्होंने बेकसूर 'निराला' को मारा, और अपने संबंध में सब कुछ पी गए। यह सब मुझे निहायत असंयत अन्याय के रूप में दिखलाई पड़ा। मैं अपनी कविताओं के संबंध में काफी इज़हार दे चुका हूँ। इधर पंतजी ने लिखा था, उनके कुछ मित्र मेरी भी आलोचना करना चाहते हैं। अच्छा हो, यदि इस कार्य का भार पंत जी स्वयं उठाने का कष्ट स्वीकार करें। तीरों को तूण में रखकर अकारण बोझ लिए हुए फिरने से तूण को खाली कर देना अच्छा होगा। इस विचार से मैं अपने संबंध में चुप रहना उचित समझता हूँ।

'परिवर्तन' को छोड़कर पंतजी की अन्यान्य कविताएँ जो 'पल्लव' में आई हैं, जितनी मधुर हैं; उतनी ओजस्विनी नहीं। जान पड़ता है, बाल-रचनाएँ हैं। पंखड़ियों के खोलने की चेष्टा की गई है। हिंदी की मधुरता के साथ इस समय विशेष ओज की भी जरूरत है। विश्व-साहित्य के कवि-समाज पर उसी तरह के कवि का प्रभाव पड़ सकता है, जो भावना के द्वारा मन को आकर्षक रीति से उन्नत-से-उन्नत विचार कला के मार्ग से चल कर दे सके।

सुमन-हास में, तुहिन-अश्रु में
मौन-मुकुल, अलि-गुंजन में;
इंद्र-धनुष में, जलद-पंख में
अस्फुट बुद्बुद् क्रंदन में;
खद्योतों के मलिन-दीप में
शिशु की स्मिति, तुतलेपन में;
एक भावना, एक रागिनी
एक प्रकाश मिला मन में।

इन पंक्तियों में जिस एक ही भावना, रागिनी तथा प्रकाश को कवि अनेक स्थलों को मधुरता में व्यंजित करना चाहता है, वह प्रकाश उन स्थलों के सौंदर्य के बोझ से जैसे दबा जा रहा हो। जिस एक प्रकाश को कवि अन्य वस्तुओं तथा विषयों पर व्यंजित कर देना चाहता है, लड़ियों में उस प्रकाश की अपेक्षा सजावट में शक्ति ज्यादा आ गई है, पाठक सजावट में इतना झुक जाता है कि फिर प्रकाश देखने के लिये वह उठ नहीं सकता। साफ जान पड़ता है कि कवि स्वयं जितना 'अस्फुट-बुद्बुद-क्रंदन' में लीन है, उतना 'प्रकाश' में नहीं, इसीलिये पाठक भी उधर ही झुकते हैं। यहाँ प्रधानता उस 'एक प्रकाश' की है, खद्योतों के मलिन 'दीप' की नहीं—अतएव व्यंजना उसी की जबरदस्त चाहिये थी।

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया;
बाले! तेरे बाल-जाल से कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को।"

वही हालत इन पंक्तियों की भी है। कवि 'बाला' के 'बाल'-जाल से छूटकर 'द्रुमों की मृदु छाया' में तथा 'प्रकृति की माया' में जीवित रहना चाहता है। यहाँ भी कला से विपरीत रति कराई गई है, जो निहायत अस्वाभाविक हो गई है। अगर 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटने का निश्चय है, तो छूटकर जहाँ ठहरिए, उसे दिखलाइए कि वह स्वभावतः 'बाला' के 'बाल-जाल' से ज्यादा आकर्षक है। अगर छूटे, तो 'द्रुमों की मृदु छाया' में क्या करने गए? प्रकृति से माया जोड़ने की क्या आवश्यकता थी?—प्रकृति में ही रहे, तो उत्कृष्ट को छोड़कर निकृष्ट को क्यों ग्रहण किया?—प्रकृति में 'बाला' से मधुर और क्या होगा?—'बाला' को छोड़कर प्रकृति से परे जाते, तो जरूर आकर्षक बन जाता। यहाँ कला का पतन हुआ है—उसके स्वाभाविक विकास की प्रतिकूलता का दोष आ।

गया है। यदि कोई कहे कि इस तरह एक विशाल प्रकृति में बाला के बाल-जाल को छोड़कर कवि अपने को मिला देना चाहता है, तो उत्तर यह है कि उस तरह उस प्रकृति को बाला के बाल-जाल से स्वभावतः मधुर होना चाहिए। जहाँ बाला के बाल-जाल मिलते हों, वहाँ मनुष्य के स्वभाव को द्रुमों की शीतल छाया कब पसंद होगी? इस कविता के अन्यान्य पद्य भी इसी तरह कला को पतन की ओर झुका ले जाते हैं। कवि को हमेशा ध्यान रखना पड़ता है कि कला के विकास का मार्ग क्या है। कला के साथ कभी मनमानी किसी की नहीं चल सकती। कला ही कवि की प्रेयसी और अभीष्ट देवी है। उसे कवि जिस दृष्टि से देखेगा, साहित्य में वही छाप पड़ेगी। उसे छेड़-छाड़ तभी तक अच्छी लगती है, जब तक उसका भी उस छेड़-छाड़ से मनोविनोद होता है। यदि उससे ज़बरदस्ती की गई, तो साहित्य में उस बलात्कार की ही छाप पड़ेगी। उस जगह साफ़ जान पड़ेगा कि यह कविता के रूप में एक अस्वाभाविक और विकृत चेष्टा है।

परंतु जहाँ पंतजी लिखते हैं—

"कभी उड़ते-पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार;
बढ़ाकर लहरों से लघु हाथ
बुलाते हैं मुझको उस पार।"

यहाँ कला का विकास हद दर्जे को पहुँच गया है। पहले जिन बातों पर एतराज़ था, यहाँ वही बातें विकसित स्वरूप धारण करती हैं। उड़ते पत्तों को देखकर सुकुमार या प्रियतम की याद आना निहायत स्वाभाविक, निहायत आकर्षक और अत्यंत सरस है, इतना सरस कि जैसे प्रियतम ही मिल गए हों। फिर लहरों के छोटे-छोटे हाथों के इशारे जब वही प्रियतम अपनी नवोढ़ा प्रेयसी को उस पार बुलाते हैं, तब

उनकी प्रेयसी के साथ कविता भी असीम में विलीन हो जाती है। प्रियतम की याद आने के बाद लहरों को देखकर प्रिय का ही हाथ बढ़ाकर बुलाने का इशारा समझना बड़ा ही मधुर हुआ है—फिर बुलाना भी उस पार। यह अभिव्यक्ति सौंदर्य के साथ असीम की ओर हुई है, अतएव निर्दोष और सहृदय-संवेद्य है।

"दिवस का इनमें रजत-प्रसार,
उषा का स्वर्ण सुहाग;
निशा का तुहिन-अश्रु-शृंगार,
साँझ का निःस्वन राग;
नवोढ़ा की लज्जा सुकुमार,
तरुणतम सुंदरता की आग।"

पल्लव के प्रति कवि की ये उक्तियाँ कला के प्राणों से मिलकर एक हो गई हैं। परंतु दिवस, उषा, निशा और सांझ का क्रम ठीक न रहने से कारीगरी का आभास मिलता है, जो स्वाभाविक वर्णन का बाधक हो जाता है। कला भी कारीगरी ही है, परंतु स्वाभाविक। यहाँ असीम के संबंध की कोई बात नहीं। केवल कला ही अपना सौंदर्य प्रदर्शन करती है।

पंतजी 'है' को कविता से निकाल देने के लिये कहते हैं। कहते हैं, इसे माया-मृग समझकर कविता की सीता के पास न आने देना चाहिए। परंतु सब जगह यह बात नहीं। करुणा के स्थल पर 'है' ही एक हृदय तक धंसकर उसे कमज़ोर करता और करुणा को उभाड़ता है—जैसे—

"कहाँ है उत्कंठा का पार !!
इसी वेदना में विलीन हो अब मेरा संसार !

तुम्हें, जो चाहो, है अधिकार !
टूट जा यहीं, यह हृदय हार !!!

× × ×

कौन जान सका किसी के हृदय को ?
सच नहीं होता सदा अनुमान है !
कौन भेद सका, अगम आकाश को
कौन समझ सका उदधि का गान है ?
है सभी तो ओर दुर्बलता यही,
समझता कोई नहीं—क्या सार है !
निरपराधों के लिये भी तो अहा,
हो गया संसार कारागार है !"

तजी की एक कविता 'विश्ववेणु' शीर्षक है, उसी में एक जगह है—

"हर सुदूर से अस्फुट-तान,
आकुल कर पथिकों के कान,
विश्ववेणु की-सी झंकार,
हम जग के सुख-दुखमय गान
पहुँचाती अनल के द्वार ।"

जिस कविता का शीर्षक 'विश्ववेणु' है, वहाँ पाठक पहले ही से यह अनुमान कर लेता है कि कवि अब विश्ववेणु ही पर कुछ लिखेगा। फिर जब कविता में 'हम' का प्रयोग आता है, तब 'हम' को कवि के विश्ववेणु का ही सर्वनाम निश्चय किया जाता है। 'विश्ववेणु' का खुलासा अर्थ है संसार की मधुरता, जो उसके ज़र्रे-ज़र्रे में व्याप्त है। उद्धृत पद्य में "विश्ववेणु की-सी झंकार [हैं हम]" यानी हम [विश्ववेणु] विश्ववेणु की-सी झंकार हैं—इस तरह का दोष आ जाता है। शीर्षक विश्ववेणु देकर उपमा में फिर विश्ववेणु का लाना ठीक नहीं हुआ।

माधुर्य में पंतजी की 'अनंग', 'स्वप्न', 'वीचि-विलास', 'छाया' और 'मौन-निमंत्रण' आदि कविताएं हैं, जो अच्छी हैं। कहीं-कहीं इनमें भी चमत्कार हद दर्जे को पहुँच गया है।

"गाओ, गाओ, विहग-बालिके !
तरुवर से मृदु-मंगल-गान ,
मैं छाया में बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर में कर लूँ स्नान ;
हाँ सखि, आओ, बाँह खोल, हम
लगकर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अंतर्द्धान !"

× × ×

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधुमास ,
विधुर-उर के-से मृदु-उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास
न-जाने, सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन !
क्षुब्ध-जल-शिखरों को जब बात
सिंधु में मथकर फेनाकार;
बुलबुलों का व्याकुल-संसार
बना बिथुरा देती अज्ञात
उठा तब लहरों से कर कौन
न-जाने; मुझे बुलाता मौन !

× × ×

अलि ! क्या कहती है प्राची से

फिर उज्ज्वल होगा आकाश
पर, मेरे तम-पूर्ण हृदय में
कौन भरेगा प्रकृत-प्रकाश ॥

इन पंक्तियों में सौंदर्य के सहस्र दल को अपनी प्रतिभा के सूर्य से पंतजी ने पूर्ण प्रस्फुट कर दिया है। मैंने सुना है, लोगों की दृष्टि से पंतजी गिर गए हैं। मैं जानता हूँ, यह उठने-गिरने का इंद्रजाल क्षणिक है। जो लोग केवल गिराने में दूसरों की सहायता के लिये उत्सुक रहते हैं, वे इस युग के मनुष्य नहीं। दुःख है, हिंदी-साहित्य में ऐसे रत्न के भी जौहरी नहीं। पत्रों के संपादकों और वृद्ध साहित्यिकों की हास्यक्रूर वक्र दृष्टि से ईश्वर साहित्य की रक्षा करे। ये लोग तीन पुश्त तक दाँव चुकाने की हिंसा धारण कर सकते हैं।

परिवर्तन के वाद मेरी दृष्टि में 'उच्छ्वास' और 'आँसू' का स्थान है। 'पल्लव' में यद्यपि यह नहीं, फिर भी पंतजी की 'प्रथम रश्मि' भी मुझे बहुत पसंद आई। उसमें अकारण विशेषणों का लदाव नहीं, और प्रकाशन बड़ा ही जबरदस्त है।

"कभी तो अब तक पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मुझको ही मदिरा आज,
हाय! क्या गंगा-जल की धार !!
हृदय! रो, अपने दुःख का भार
हृदय! रो, उनको है अधिकार!
हृदय! रो, यह जड़ स्वेच्छाचार,
शिशिर का-सा समीर-संचार !!

× × ×

तुम्हारे छूने में था प्राण,

संग में पावन गंगा-स्नान ;
तुम्हारी वाणी में कल्याणि ,
त्रिवेणी की लहरों का गान ?"

इन पंक्तियों में कितनी स्वाभाविकता है ! जान पड़ता है, ये हृदय के शब्द हैं। इसीलिये इतने सहज और इतनी तीक्ष्ण चोट करने वाले हैं। 'वाणी में' त्रिवेणी की लहरों का गान' वर्तमान हिंदी के हृदय का गान है। 'संग में पावन गंगा-स्नान' से जान पड़ता है, दो ज्योतिर्मयी मूर्तियों—दो किरणों का मिलाप हो रहा है । 'जड़-स्वेच्छाचार' के उदाहरण में 'शिशिर का-सा समीर-संचार' भी लाजवाब है।

'बादल' कविता में है।

"जलाशयों में कमल-दलों सा
हमें खिलाता जब दिनकर ;
पर बालक-सा वायु सकल दल
बिखरा देता चुन सत्वर ।
लघु लहरों के चल-पलनों में
हमें झुलाता जब सागर ।
वही चील्ह-सा झपट, बाँह गह
हमको ले जाता ऊपर ।

× × ×

फिर परियों के बच्चों -से हम
सुभग-सीप के पंख पसार
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में
पकड़ इंदु के कर सुकुमार।
अनिल-विलोड़ित गगन-सिंधु में
प्रलय - बाढ़ - से चारों ओर ;

उमड़ - उमड़ हम लहराते हैं
बरसा उपल, तिमिर, घनघोर।

बुद्बुद-द्युति तारक-दल-तरलित
तम के यमुना-जल में श्याम ;
हम विशाल - जंबाल - जल - से
बहते हैं अमूल अविराम।

× × ×

व्योम-विपिन में जब वसन्त-सा
खिलता नव - पल्लवित प्रभात
बहते हम तब अनिल स्रोत में
गिर तमाल-तम के-से पात।

उदयाचल से बाल-हंस फिर
उड़ता अंबर में अवदात।
फैल स्वर्ण-पंखों से हम भी
कहते द्रुत मारुत से बात।"

इन पंक्तियों में पंत जी की सौंदर्य-पर्यवेक्षण-कला की यथेष्ट सूक्ष्मता प्रकट हुई है। पंतजी में सब से जबरदस्त कौशल जो है, वह शेली की तरह अपने विषय को अनेक उपमाओं से संवारकर मधुर-से मधुर और कोमल-से-कोमल कर देना। भावना की प्रबल जागृति तो नहीं, परंतु सौंदर्य के मनोहर रूप जगह-जगह पंक्ति-पंक्ति में मिलते हैं। रूपक और अलंकार बाँधना उनके बाएँ हाथ का खेल है। सफलता जैसे स्वयं उनकी उपासना से प्रसन्न हो रही हो।

—:०:—

राष्ट्र और नारी

संस्कृत-साहित्य में जो विधाता की आदि शृंगार-सृष्टि, वन-पादपों के पाद मूल में खड़ी सखियों के साथ आलवालों में जल सींचकर कौतुकालाप करती हुई, महाकवि की कल्पना की उज्ज्वल प्रतिमा, शकुन्तला वन्य वल्कलों से अपने पीन-पुष्ट भरे उभरे हुए नवीन यौवनांगों को ढके, सलाज-सप्रेम दृष्टि से चतुर्दिक् चंचल हेरती हुई मिलती है। वह केवल नाटक की प्रधान नायिका या पुराण की कल्पित पात्री ही नहीं, किंतु वह तत्कालीन राष्ट्र की सर्वोत्तम आदर्श नारियों की ज्योति यी साहित्य की प्रधान अभिनेत्री है। संस्कृत साहित्य में दूसरी शकुंतला नहीं। उसके सरस कोमल-मुधुर उपाख्यान के स्वर्गीय प्रेम का रसस्वादन करने के साथ ही साथ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वह तपोवन की तपस्या, प्रेममयी नारी शिरोमणि शकुन्तला ही उस समय के एकच्छत्र सम्राट् भरत की जन्म-दात्री थी। भारत की साम्राज्ञी, भारत की सम्राट् माता शकुंतला के चरित्र में भारत-राष्ट्र की आदर्श नारियों को अनेक प्रकार की शिक्षाएँ मिलती हैं, जिनमें एक ही साथ अपार रूप तथा अविचल तपस्या, एकनिष्ठ पतिपरायणता तथा आश्चर्यकर ओज, एक ही देह की द्युति में लवण्य तथा कठोर संयम की विद्युत-शिखा, अपांगों में संमोहनास्त्र तथा अपार धैर्य और शांति मिलती है। प्रेमशृंगार जितना ऊँचा, त्याग भी उतनी दूर तक समांतराल रेखा की तरह खिंचा चलता हुआ। यह तत्कालीन भारत राष्ट्र की कल्याणि नारी-मूर्ति है, जिसे देखकर कामनाएँ आप ही में मुरझाकर मर जाती हैं—शांति के रूप में स्वर्गीय सुख का अनर्गल प्रवाह वह चलता है।

आज जो अतृप्त उद्दाम वासनाएँ विषय के आसन पर बैठने बिठाने के लिये हमारे राष्ट्र की शिक्षित महिलाओं को सदा ही दंश दे रहीं हैं, जिनके ज़हर से उनका स्वर्णोज्ज्वल शृंगार-शरीर प्रतिदिन स्याह पड़ता जा रहा है, इसका कारण वास्तव में यह है कि आवश्यकताओं की पूर्ति के विषद उपाय को ही वे भूल गई हैं। वे इतना बहिर्मुख तथा दूसरे राष्ट्रों की ऐश्वर्यवती महिलाओं के रूप-रँग, हाव-भाव, केश-वेश आदि की तरफ बढ़ी हुई हैं कि उन्हें अपनी आत्मा की ज्योति की तरफ देखने का अवकाश ही नहीं मिलता। आईने में अपने ही चित्र को वे दूसरी स्त्रियों के चित्रों में कल्पित कर देखती हैं, और उस मानसिक आदर्श से बहुत पीछे रहने के कारण अपने अम्लान रूप के पुष्प को नहीं पहचान पातीं, बल्कि उसे देखकर पाला की मारी हुई फूली डाल की तरह मुरझा जाती हैं। यह आत्मिक दैन्य है, जहाँ दृष्टि रूप पर नहीं, उसके साधनों पर पड़ती है, जहाँ अपने ही साथ राष्ट्र की स्वाधीन सत्ता स्वप्न के छाया-चित्रों की तरह विलीन हो जाती है, और निद्रा के क्रमशः प्रगाढ़ होते हुए स्तब्धांधकार पर सत्य का भान होने लगता है। मरीचिका सत्य नहीं, सत्य जल ही है, और तृष्णार्थ के लिये आवश्यक भी वही है; पर मरीचिका की ज्योति, रम्यता तथा आकर्षण अपार-अतुल है। तृष्णा की सताई हुई आत्मा में क्षणिक धैर्य के आए बिना मरीचिका की माया प्रत्यक्ष भी नहीं होती। वह उसी के पीछे भटकना अपना उद्देश समझती है।

अभी उस दिन लखनऊ में, नारियों के समाज में, एक नेता ने रूप तथा वस्त्रों पर भाषण करते हुए कहा—आप लोगों में वे आँखें होनी चाहिएँ, जिनमें रूप के सच्चे मूल्य की पहचान हो। अब विदेशी वस्त्रों से सौन्दर्य बढ़ता नहीं, बल्कि सुंदरता घट जाती है, जैसे रूप को कलंक स्पर्श कर रहा हो। इतना सुनते ही खद्दर की साड़ी से

सजी हुई एक किशोरी, प्रभात की ज्योतिर्मयी तरंग की तरह, अपने अल्प सज्जित रूप की तरुण लहरों से उमड़ पड़ी। वहीं संसार-प्रसिद्ध भारत की आदर्श राष्ट्र-अभिनेत्री भी बैठी हुई थीं। उनके अधरों के पल्लव अंधकार से ढक गए। उनकी बेशक़ीमत विदेशी सूत की ज़रीदार देशी साड़ी भी अपनी रजत-श्वेत द्युति से उस अंधकार को दूर नहीं कर सकी। उस तरुणी बालिका की अदम्य द्युति राष्ट्र की आत्मा की ज्योति थी, वहाँ प्राणों का प्याला अपने अपार रूप के गर्व से उस समय उसके लिये ऊपर तक भरकर कुछ छलक गया था, जिसकी प्रभा से सभास्थल कुछ काल के लिये तड़ित-हत, चकित, स्तंभित रह गया था। उस अपराजित खिली हुई रूप-राशि में थोड़ी देर के लिये राष्ट्र नारी की अभाव-शून्य अपनी ही मौलिकता से अस्वर्गीय छवि आ गई थी। इसी छवि की स्थाई प्रतिष्ठा देश की वर्तमान महिलाओं में हो, तो वे अपनी आत्मा की शक्ति तथा सौंदर्य से परिचय प्राप्त कर सकती हैं।

इतनी ही सुंदरता राष्ट्र की नारियों के रूप का सोलहो शृंगार नहीं, क्योंकि वस्त्र बाह्य भूषण ही है। आत्मा को अलंकृत करने के लिये उन्हें आत्मिक भूषणों की आवश्यकता है। यहाँ आता है शिक्षा तथा संस्कृति का प्रश्न। यही आत्मा के स्थायी प्रकाश हैं, जिनके खुलने पर राष्ट्र के अज्ञान के कारण होने वाले छल-छिद्र तथा उत्पात-पीड़न अपने फैलाए हुए माया के अंधकार में अपने को छिपा न सकेंगे, वे पाप मुख प्रकट हो जायेंगे। फिर उनके तिरस्कार के लिए देर न होगी। ज्ञान कभी भी पराधीन नहीं रह सकता। बल्कि यदि एक ही शब्द में स्वाधीनता की परिभाषा की जाय, तो वह ज्ञान ही होगा। यह ज्ञान राशि भी यदि हर तरफ़ से हमारे राष्ट्र की नारियों को पराश्रित कर रक्खे, तो उनके हृदय से निकला हुआ स्वतंत्रता का स्रोत भी पर-राष्ट्र-सागर-वाही होगा, उसका प्रवाह कभी भी अपने

ज्ञान के महासागर की ओर नहीं हो सकता। यह दार्शनिक सत्य है हमारा अभिप्राय यह है कि हम अपने राष्ट्र की महिलाओं के लिये चाहते हैं, वे दूसरों को अपनी आँखों से देखें, अपने को दूसरों की आँखों से नहीं। और, यह उपयोग सार्वभौमिक रूप से किया जाय, ताकि फिर एक बार राष्ट्र की नारियाँ पालनों पर बच्चों को झुलाते हुए, "त्वमसि निरंजनः"—जैसे शिशु-सुप्तिगीत गावें, और बालक नवीन यौवन के उन्मेश में सहस्र-सहस्र कंठों से कह उठें—"न मे मत्यु-शंका, न मे जाति-भेदः।"

रूप और नारी

आकाश की आत्मा सूर्य का खुला हुआ प्रकाश ही पृथ्वी के ससीम सहस्रों पादपों के अखिल जीवों में रूप की कमनीय कांति खोल देता, भावना को अपार्थिव एक स्वर्गीय कुछ कर देता, भीतर से उभाड़कर भूमा के प्रशस्त ज्योतिर्मंडल में ले आता है। उस स्वतंत्र प्रकाश के स्नेह-स्पर्श से सुप्त प्रकृति की तंद्रा छुट जाती, उसके सहस्रों रूप अपनी लाख-लाख आँखों से अपने ही विभिन्न अनेक अम्लान चित्रों को प्रत्यक्ष करते हैं, हृदय के अंधकार की अर्गला, जिसके कारण प्रकाश-पुंज प्रवेश नहीं कर पाता, खुलकर गिर जाती, ज्योति का जगमग प्रवाह, जो चारों ओर बहता हुआ सृष्ट जीवों की स्वाभाविक स्वतंत्रता का स्रोत खोलता फिरता है, हृदय में भर जाता है। मोह का मंत्र-मुग्ध आवेश कट जाता, पुलकित हो हृदय, अपने हलके ऐश्वर्य से प्रसन्न, खिल जाता है, उसी तरह, जैसे ज्योति के एक ही लघु चुंबन से पुष्पों के प्राण खुल जाते, पल्लव प्रसन्न हो हिलने-डोलने, झूमने-घूमने लगते हैं।

यह ज्योतिःप्रवाह अरूप है। जड़ों में यह चेतन-संयोग ही गति है। प्रत्येक पद पर इसका अज्ञात स्पर्श जीव-जग करता रहता है, अन्यथा दूसरा चरण उठ नहीं सकता, उसे अपनी सत्ता का निश्चय नहीं हो सकता। वह वहीं निर्जीव प्रस्तर की तरह अचल है। उसमें स्वतः विचरण की शक्ति नहीं, पृथ्वी के साथ ही उसे अलक्ष्य के इंगित से महाकाश की परिक्रमा करनी पड़ती है। जीव को हर साँस में वह स्पर्श मिलता है।

साहित्य में इस अरूप की स्वतंत्र सत्ता को नारियों में स्थिर रूप दिया गया है। कलाविदों ने वहीं पुरुष और प्रकृति का सौहार्द, दोनो

का अपार प्रेम, निरंतर योग देखा। आकर्षण दोनों के संभोग-विलास में ही है, वह और अच्छा जब एक ही आधार में हो। यहीं बीज-मंत्र है, जिसका जप कर उन्होंने नारियों के अगणित-अपार रूपों में सिद्धि प्राप्त की। ये सिद्ध रूप परवर्ती काल के साहित्य की आत्मा में प्राणों का प्रवाह भरते गए हैं। बाह्य महाशून्य की चेतन-स्पर्श से जगी हुई असंख्यों रूपसी-अप्सराओं की तरह ये साहित्य की पृथ्वी पर चपल-चरण, नम्र, शिष्ट, भिन्न-भिन्न अनेक प्रकृति की श्री-शृंगारमयी, रूप के ऊषा-लोक में अपलक ताकती हुई, लावण्य की ज्योति से पुष्ट-यौवना युवती, कुमारिकाएँ हृदयशून्य के चेतन-स्पर्श से जगकर उठी हुई हैं, जो मूर्त बाह्य रूप-राशि ही की तरह अमर हैं, जिनसे बाह्य स्वतंत्रता की तरह अपार आंतरिक स्वतंत्रता मिलती है, और बाह्य के साथ अन्तर के साम्य का निरुपद्रव संदेश।

रूप की चंपा अपने स्नेह की छाया-डाल पर पल्लवों के भीतर अधखुली कोमल सरल चितवन से अपरिचित संसार को देखती, न-जाने किस अज्ञात चंचल भावावेश में डोलकर अपने गृह के पत्र-द्वार बंद कर लेती है; अरूप के इस चपल रूप-स्पर्श से कवि के मस्तिष्क की सुप्त स्मृतियाँ तत्काल आँखें खोल देतीं, रूप की स्वर्णच्छवि चित्त के चित्र-पट पर अपनी संपूर्णता के साथ सुडौल अंकित हो जाती है। वह उस मूक वाणी में प्राणों का संचार कर देता है—वही प्राण, जिसका अनुभव, पुलक अभी-ही-अभी उसे रोमांचित कर चुका है। साहित्य के एक पृष्ठ में एक विकच नारी-मूर्ति, तम के अतलप्रदेश से मृणाल-दंड की तरह अपने शत-शत दलों को संकुचित संपुटित लेकर, बाहर आलोक के देश में, अपनी परिपूर्णता के साथ खुल पड़ती है। जड़ों में प्राण संचरित हो जाते, अरूप में भुवन-मोहिनी ज्योतिःस्वरूपा नारी।

तरंगों की अंग-संचालन-क्रिया, अविराम-प्रवाह, पुनः पुनः आकाश के प्रति उठकर उनकी चुंबन-चेष्टा, सहस्रों भंगिमाएँ, उठ

उठ बार'बार गिरना, गिर-गिर उठने की शक्ति प्राप्त करना, उत्थान और पतन के बीच इतना ही विराम प्राप्त कर क्रमशः बढ़ते ही जाना प्रत्यक्ष कर कवि के हृदय का, आदि-सृष्टि के रहस्य का बद द्वार खुल जाता है; किस तरह, कितने दुःसाध्य अध्यवसाय के पश्चात्, सहस्रों निष्फल-सफल चेष्टाओं के भीतर से अधार-पद्म की सुप्त शक्ति जाग्रत् हो सहस्रार में परमप्रिय ब्रह्म से मिलती है, वह दर्शन कर लेता है। जीवन की पराजय का फिर उसे भय नहीं रह जाता। अविराम प्यास, चिर'तन, कामना जिसे सदा ही बहती हुई लहरों में वह देखता है, साहित्य के हृदय में प्रिया की तृष्णा के रूप से अपने अनुभव-सत्य की इस तरह की पंक्तियाँ छोड़ जाता है—

"जनम अवधि हम रूप निहारनु
नयन न तिरपित भेल।
लाख-लाख युग हिये हिय राखनु
तयो हिय जुड़न न गेल।"

भावना के हृदय में रूप की विदग्धता की आग भर देता है—नारी भावनामयी बन रूप के शिखर पर चिरकाल बैठी रहती है, अमर अक्लाँत वह अनुपम मूर्ति माईकेल एँजेलों की भावना मूर्ति की तरह मनुष्य जाति के हृदय की जाग्रत् देवी, शक्ति की अपार महिमा, सौंदर्य की प्रेयसी प्रतिमा बनकर मनुष्य-समाज को स्वतंत्र विचारों की ओर मौन इ'गित से बढ़ाती हुई।

———

हमारे साहित्य का ध्येय

आज हमारे साहित्य को देश तथा साहित्यिकों के समाज में वह महत्व प्राप्त नहीं, जो उसे राजनीति के वायु-मंडल में रहनेवालों में, जन्म-सिद्ध अधिकार के रूप से प्राप्त है। इसीलिये हमारे देश के अधिकांश प्रांतीय साहित्यिक राजनीति से प्रभावित हो रहे हैं। यह सच है कि इस समय देश की दशा के सुधार के लिये कार्यकरी सच्ची राष्ट्र-नीति की अत्यंत आवश्यकता है, पर यह भी सच है कि देश में नवीन संस्कृति के लिये व्यापक साहित्यिक ज्ञान भी उसी हद तक जरूरी है। उपाय के विवेचन में वही युक्ति है, जो राजनीतिक कार्य-क्रम को क्रियात्मक रूप देती है। एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्व देता है, तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा अपनी एकदेशीय भावना के कारण घटा देता है, जो उन्नति और स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये, शरीर के तमाम अंगों की पुष्टि की तरह समभाव से आवश्यक है।

राजनीति में उन्नति-क्रम के जो विचार गणित के अनुसार प्रत्येक दशा की गणना कर पत्तिवाद के कायदे से कल्पना द्वारा देश का परिष्कृत रूप खींचते हुए चलते हैं, वही साहित्य में प्रत्येक व्यक्ति के इच्छित विकास को निर्बंध कर उनकी बहुमुखी उच्चाभिलाषाओं को पूर्णता तक ले चलते हुए समष्टिगत पूर्णता या बाह्य स्वातंत्र्य सिद्ध करते हैं।

अधिकांश सम्मान्य नेताओं की उक्ति है, पहले राज्य, फिर सुधार, व्यवस्थाएँ, शिक्षा आदि। मनुष्य जब अपनी ही सत्ता पर जोर देकर संसार की बिगड़ी हुई दशा के सुधार के लिये कमर कस लेता है, तब वह प्रायः सोऽहम् बन जाता है, प्रकृति के विरोधी गुणों, दुनिया की अड़चनों तथा मनुष्यों की स्वभावप्रियता को एक ही छलाँग से पार

कर जाता है। समष्टि के मन को यंत्र-तुल्य समझकर अपने इच्छानुसार उसका संचालन करता है। इसी जगह एक सच्चे नेता से एक सच्चे साहित्यिक का मतभेद है। साहित्यिक मनुष्य की प्रकृति को ही श्रेय देता है। उसके विचार से हर मनुष्य जब अपने ही प्रिय मार्ग से चलकर अपनी स्वाभाविक वृत्ति को कला-शिक्षा के भीतर से अधिक मार्जित कर लेगा, और इस तरह देश में अधिकाधिक कृतिकार पैदा होंगे, तब सामूहिक उन्नति के साथ-ही-साथ काम्य स्वतंत्रता आप-ही-आप प्राप्त होगी, जैसे युवकों को प्रेम की भावना आप-ही-आप प्राप्त होती है, यौवन की एक परिणति की तरह।

संपत्ति-शास्त्र और गणित-शास्त्र कभी ईश्वर की परवा नहीं करते। उनके आधार पर चलने वाले नेता भी अदेख शक्ति या अज्ञात रहस्यों पर विश्वास करना अपने को पंगु बनाना समझते हैं, और उनके लिये यह स्वाभाविक है भी, जब संपत्ति और गणित के साथ देश की मिट्टी में उन्हें जड़-ही-जड़ मिलता है, और उनकी स्वतंत्रता भी बहुत कुछ जड़ स्वतंत्रता है। साहित्यिक के प्रधान साधन हैं सत् चित् और आनन्द। उसका लक्ष्य है अस्ति, भाति और प्रिय। उसकी स्वतंत्रता इनकी स्फूर्ति से व्यक्ति के साथ समष्टि के भीतर से आप निकलती है।

साहित्य के व्यापक अंगों में राजनीति भी उसका एक अंग है। अतएव राजनीति की पुष्टि भी वह चाहता है। पर जो लोग राजनीतिक क्षेत्र से यह प्रचार करते हैं कि पहले अधिकार तब सुधार, उनके इस गुरु प्रभाव से वह दबना नहीं चाहता, कारण, यह व्यक्तिमुख की उक्ति उसकी दृष्टि में 'पहले मुर्गी, फिर अंडा या पहले अंडा तब मुर्गी' प्रश्न की तरह रहस्यमयी तथा जटिल है। वह केवल बहिर्जगत् को अंतर्जगत् के साथ मिलाता है। उदाहरण के लिये भारत का ही बाहरी संसार लिया जाय। साहित्यिक के कथन के अनुसार भारतीयों की भीतरी भावनाओं का ही बाहर यह विवादग्रस्त भयंकर रूप है। जिस बिगाड़ का अंकुर

भीतर हो, उसका बाहरी सुधार बाहरी ही है, गंदगी पर इत्र का छिड़-काव। इस तरह विवाद-व्याधि के प्रशमन की आशा नहीं। दूसरे जो रोग भीतर हैं, जड़ प्राप्ति द्वारा, रुपये पैसे या जमीन से उसका निरा-करण हो भी नहीं सकता। मानसिक रोग मानसिक सुधार से ही हट सकता है। साहित्य की व्यापक महत्ता यहीं सिद्ध होती है।

जीवन के साथ राजनीति का नहीं, साहित्य का संबंध है। संस्कृत जीवन कुम्हार की बनाई मिट्टी है, जिससे इच्छानुसार हर तरह के उपयोगी बर्तन गढ़े जा सकते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिये हम प्रायः एक दूसरा तरीका अख्तियार कर बैठते हैं, वह, साहित्य के भीतर से अध्यवसाय के साथ काम करने पर, अपनी परिणति आप प्राप्त करेगा।

इस समय देश में जितने प्रकार की विभिन्न भावनाएँ हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि-आदि की जातीय रेखाओं से चक्कर काटती हुई गंगासागर, मक्का और जरुसलेम की तरफ चलती रहती हैं, जिनसे कभी एकता का सूत्र टूटता है, कभी घोर शत्रुता ठन जाती है। उनके इन दुष्कृत्यों का सुधार भी साहित्य में है, और उसी पर अमल करना हमारे इस समय के साहित्य के लिये नवीन कार्य, नई स्फूर्ति भरनेवाला, नया जीवन फूंकनेवाला है। साहित्य में बहिर्जगत्-संबंधी इतनी बड़ी भावना भरनी चाहिए, जिसके प्रसार में केवल मक्का और जरुसलम ही नहीं, किंतु संपूर्ण पृथ्वी आ जाय। यदि हद गंगासागर तक रही, तो कुछ जन समूह में मक्के का खिंचाव जरूर होगा, या बुद्धदेव की तरह वेद भगवान् के विरोधी घर ही में पैदा होंगे। पर मन से यदि ये जड़-संयोग ही गायब कर दिए जा सकें, तो तमाम दुनिया के तीर्थ होने में सन्देह भी न रह जाय। यह भावना साहित्य की सब शाखाओं, सब अंगों के लिये हो और वैसे ही साहित्य की सृष्टि।

यह साहित्यिक रंग यहीं का है। काल-क्रम से अब हम लोग उस

कर जाता है। समष्टि के मन को यंत्र-तुल्य समझकर अपने इच्छानुसार उसका संचालन करता है। इसी जगह एक सच्चे नेता से एक सच्चे साहित्यिक का मतभेद है। साहित्यिक मनुष्य की प्रकृति को ही श्रेय देता है। उसके विचार से हर मनुष्य जब अपने ही प्रिय मार्ग से चलकर अपनी स्वाभाविक वृत्ति को कला-शिक्षा के भीतर से अधिक मार्जित कर लेगा, और इस तरह देश में अधिकाधिक कृतिकार पैदा होंगे, तब सामूहिक उन्नति के साथ-ही-साथ काम्य स्वतंत्रता आप-ही-आप प्राप्त होगी, जैसे युवकों को प्रेम की भावना आप-ही-आप प्राप्त होती है, यौवन की एक परिणति की तरह।

संपत्ति-शास्त्र और गणित-शास्त्र कभी ईश्वर की परवा नहीं करते। उनके आधार पर चलने वाले नेता भी अदेख शक्ति या अज्ञात रहस्यों पर विश्वास करना अपने को पंगु बनाना समझते हैं, और उनके लिये यह स्वाभाविक है भी, जब संपत्ति और गणित के साथ देश की मिट्टी में उन्हें जड़-ही-जड़ मिलता है, और उनकी स्वतंत्रता भी बहुत कुछ जड़ स्वतंत्रता है। साहित्यिक के प्रधान साधन हैं सत्, चित् और आनन्द। उसका लक्ष्य है अस्ति, भाति और प्रिय। उसकी स्वतंत्रता इनकी स्फूर्ति से व्यक्ति के साथ समष्टि के भीतर से आप निकलती है।

साहित्य के व्यापक अंगों में राजनीति भी उसका एक अंग है। अतएव राजनीति की पुष्टि भी वह चाहता है। पर जो लोग राजनीतिक क्षेत्र से यह प्रचार करते हैं कि पहले अधिकार तब सुधार, उनके इस गुरु प्रभाव से वह दबना नहीं चाहता, कारण, यह व्यक्तिमुख की उक्ति उसकी दृष्टि में 'पहले मुर्गी, फिर अंडा या पहले अंडा तब मुर्गी' प्रश्न की तरह रहस्यमयी तथा जटिल है। वह केवल बहिर्जगत् को अंतर्जगत् के साथ मिलाता है। उदाहरण के लिये भारत का ही बाहरी संसार लिया जाय। साहित्यिक के कथन के अनुसार भारतीयों की भीतरी भावनाओं का ही बाहर यह विवादग्रस्त भयंकर रूप है। जिस बिगाड़ का अंकुर

भीतर हो, उसका वाहरी सुधार बाहरी ही है, गंदगी पर इत्र का छिड़काव। इस तरह विवाद-व्याधि के प्रशमन की आशा नहीं। दूसरे जो रोग भीतर है, जड़ प्राप्ति द्वारा, रुपये पैसे या जमीन से उसका निराकरण हो भी नहीं सकता। मानसिक रोग मानसिक सुधार से ही हट सकता है। साहित्य की व्यापक महत्ता यहीं सिद्ध होती है।

जीवन के साथ राजनीति का नहीं, साहित्य का सबंध है। संस्कृत जीवन कुम्हार की बनाई मिट्टी है, जिससे इच्छानुसार हर तरह के उपयोगी वर्तन गढ़े जा सकते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिये हम प्रायः एक दूसरा तरीका अख्तियार कर बैठते हैं, वह, साहित्य के भीतर से अध्यवसाय के साथ काम करने पर, अपनी परिणति आप प्राप्त करेगा।

इस समय देश में जितने प्रकार की विभिन्न भावनाएँ हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि-आदि की जातीय रेखाओं से चक्कर काटती हुई गंगासागर, मक्का और जरुसलेम की तरफ चलती रहती हैं, जिनसे कभी एकता का सूत्र टूटता है, कभी घोर शत्रुता ठन जाती है। उनके इन दुष्कृत्यों का सुधार भी साहित्य में है, और उसी पर अमल करना हमारे इस समय के साहित्य के लिये नवीन कार्य, नई स्फूर्ति भरनेवाला, नया जीवन फूंकनेवाला है। साहित्य में वहिर्जगत्-संबंधी इतनी बड़ी भावना भरनी चाहिए, जिसके प्रसार में केवल मक्का और जरुसलम ही नहीं, किंतु संपूर्ण पृथ्वी आ जाय। यदि हद गंगासागर तक रही, तो कुछ जन समूह में मक्के का खिंचाव जरूर होगा, या बुद्धदेव की तरह वेद भगवान् के विरोधी घर ही में पैदा होंगे। पर मन से यदि ये जड़-संयोग ही गायब कर दिए जा सकें, तो तमाम दुनिया के तीर्थ होने में सन्देह भी न रह जाय। यह भावना साहित्य की सब शाखाओं, सब अंगों के लिये हो और वैसे ही साहित्य की सृष्टि।

यह साहित्यिक रंग यहीं का है। काल-क्रम से अब हम लोग उस

रंग से खींचे हुए चित्रों से इतने प्रभावित हैं कि उस रंग की याद ही नहीं, न उस रंग के चित्र से अलग होने की कल्पना कर सकते हैं, और इसीलिये पूर्ण मौलिक बन भी नहीं पाते, न उससे समयानुकूल ऐसे चित्र खींच सकते हैं, जो समष्टिगत मन की शुद्धि के कारण हों।

राजनीति में जाति-पाँति रहित एक व्यापक विचार का ही फल है कि एक ही वक्त तमाम देश के भिन्न-भिन्न वर्गों के लोग समस्वर से बोलने और एक राह से गुजरने लगते हैं। उनमें जितने अंशों में व्यक्तिगत रूप से सीमित विचार रहते हैं, उतने ही अंशों में वे एक दूसरे से अलग हैं, इसलिये कमजोर। साहित्य यह काम और खूबी से कर सकता है, जब वह किसी भी सीमित भावना पर ठहरा न हो। जब हर व्यक्ति हर व्यक्ति को अपनी अविभाजित भावना से देखेगा, तब विरोध में खंड क्रिया होगी ही नहीं। यही आधुनिक साहित्य का ध्येय है। इसके फल की कल्पना सहज है।

काव्य में रूप और अरूप

प्राय: सभी कलाओं के लिये मूर्ति आवश्यक है। अप्रतिहत मूर्ति-प्रेम ही कला की जन्मदात्री है, जो भावना-पूर्ण सर्वांग-सुंदर मूर्ति खींचने में जितना कृतविद्य है, वह उतना बड़ा कलाकार है। पश्चिमी सभ्यता के मध्यकाल तक जब संसार की विभिन्न सभ्यता-प्रसूत वस्तु भावनाओं का श्रेणी-विभाग, संचय तथा उपयोग नहीं हुआ था, कलाएँ अपने-अपने देश, संस्कृति तथा कलम के अनुसार विभिन्न आकार, इंगित तथा भावनाएँ प्रदर्शित करती हुई भी एक ऐसी व्यंजना कर रही थीं, जो तमाम भिन्नताओं के भीतर से एक भावसाम्य की स्थापना करती थी। संसार की भौतिक सभ्यता से सब देशों के गुँथ जाने के कारण संसार-भर के लोगों को वह आत्मिक लाभ पहुँचा। फल-स्वरूप कला में देश-भाव की जो संकीर्णता थी, आदान-प्रदान की सहृदयता ने उसे तोड़ दिया, कला की सृष्टि व्यापक विचारों से होने लगी, और हर जाति की उत्तमता से प्रेम-संबंध ज़ोड़कर लोग उससे अपनी जातीय कला को प्रभावित करने लगे।

काव्य तथा काव्य-जन्य संस्कृति पर भी यह प्रभाव पड़ा। प्राचीन मालकौश राग की वीर मूर्ति अँगरेजी-स्वर में, नायिका के दिल का दर्द भैरवी से अधिक उर्दू की ग़ज़लों में मिलने लगा, और बहार तथा आसावरी की लोकप्रियता थिएटरों की मित्र-हृदय को गुदगुदाकर बाहरी चपलता से गिरह लगा देनेवाली रागीनियों ने ले ली। इसी प्रकार प्राथमिक चित्र भी अपने जातीय पद्य वैशिष्ट्य की परिखा को पार कर संसार के प्रांगण में नए दूसरे-ही दूसरे रूप से देख पड़ने लगे। उनके रुप-भाग में कुछ देशीय विशिष्टता रह गई, पर अरूप भाग से वे मनुष्य

मात्र की संपत्ति बन गए। अरूपअंश, वर्णना-भेद के रखने पर भी, पूर्ववत् अक्लेद रहा, रूपअंश ने जातीय विशिष्टता को रखते हुए संसार की सभ्यता से भी सहयोग किया।

रवींद्रनाथ भारतीय काव्य-साहित्य में इस कला के निपुण कलाकार हैं। उनका एक उदाहरण दूँगा—

"अचल अलोके रएछ दाँडाए,
किरण-वसन अंगे जड़ाए,
चरणेर तले पड़िछे गड़ाए,
छड़ाए विविध भंगे;
गंध तोमार घिरे चारि धार,
उड़िछे आकुल कुंतल-भार,
निखिल गगन काँपिछे तोमार
परस-रस-तरंगे।

(अचल प्रकाश में तुम खड़ी हुई हो, किरणों की शुभ्र वसना, चरणों से ज्योति का वस्त्र विविध भंगों से टूटता ढुलकता हुआ। सुरभि तुम्हारी चारो दिशाएँ घेरे हुए है। केशों का व्याकुल भार उड़ता हुआ तुम्हारे स्पर्श रस की तरंगों से अखिल आकाश प्रकंपित हो रहा है।

यह नारी-मूर्ति इतनी मार्जित है कि इसे देखकर कोई विश्व-नागरिक इस ज्योतिर्मयी छवि पर मुग्ध हो जायगा। तुलसीदास के केवल सौंदर्य राम की तरह रवींद्रनाथ की इस सुंदरी में जड़ता अणुमात्र के लिये भी नहीं। यहां एक जगह रवींद्रनाथ का पश्चिम-स्नेह रूपमय प्रमाण के तौर पर प्रत्यक्ष होता है। जहां चरणों से ज्योति का वस्त्र टूटता हुआ गिरता है, वहाँ ध्यान पश्चिम की साम्राज्ञियों के पीछे लटकते हुए लंबे वस्त्र के छोर की ओर जाता है।

सौंदर्य, रूप तथा भावनाओं के आदान-प्रदान में केवल पूर्वपश्चिम से प्रभावित हुआ, यह बात नहीं; सहृदयता का अमृत यहां से वहां भी अपनी मृत-संजीवनी का विशिष्ट परिचय दे रहा है। जिन-जिन प्रांतों में अंग्रेजी शासन का पहला प्रभाव पड़ा, इस नवीन साहित्य की जड़ वहाँ-वहाँ पहले जमी, और इसलिए वहाँ के साहित्यिक इस कार्य में बहुत कुछ प्रगति कर चुके। मेरा मतलब खास तौर से सुवर्ण बंगाल से है। बंगाल के अमर काव्य 'मेघनाद-वध' के रचयिता माइकेल मधुसूदनदत्त के संबंध में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने महाकाव्य की रचना कई देशों के महाकवियों के अध्ययन के पश्चात् की थी। फ्रेंच, ग्रीक, लैटिन आदि कई भाषाएं जानते थे, और योरप में रहने के समय काव्य-शास्त्र में क़ाफी प्रवेश कर लिया था। कुछ हो, माइकेल मधुसूदन की रचना में जितनी शक्ति मिलती है, उतना जीवन नहीं मिलता। रवींद्रनाथ द्वारा वंग-भाषा को वह जीवन मिलता है। उनकी अकेली शक्ति बीस कवियों का जीवन तथा इंद्रजाल लेकर साहित्य के हृदय-केंद्र से निकली और फैली।

हिंदी में छायावादी कहलाने वाले कवियों से इसका श्रीगणेश हुआ। प्राचीन साहित्य के रक्षकों की साहित्यिक प्रतिष्ठा को पार कर अपनी नवीनता की जड़ साहित्य के हृदय में पूर्ण रीति से जमाने में अकृतकार्य रहने पर भी अधिकाँश आलोचकों के कहने के अनुसार, पद्य-साहित्य का बाजार आजकल इन्हीं के हाथ है। श्रेय अभी खड़ी बोली के मध्यकाल के कवियों को मेरे विचार से अधिक है, पर जहाँ प्राणों की बात उठती है, वहाँ आधुनिक कवि ही ज्यादा ठहरते हैं। प्रसादजी की भावनाओं और पंतजी के चित्रों में अभीप्सित नवीनता की कोमल किरण बड़ी खूबसूरती से फूट निकली है।

पर अभी हमारे नवीन साहित्य को समयानुकूल परिमार्जित और भी विराट् भावनाएँ मिलनी चाहिए। इतने ही से उसका दैन्य दूर

नहीं होता, और न अभी उसकी दिगंत पुष्टि ही हुई है। जैसा भी कारण हो, हिंदी के नवीन पद्य-साहित्य में विराट् चित्रों के खींचने की तरफ कवियों का उतना ध्यान नहीं, जितना छोटे-छोटे सुंदर चित्रों की ओर है। युक्तप्रांत, बिहार, मध्यभारत, मध्यप्रांत आदि एक ऐसी प्रकृति की गोद में हैं; जहाँ विराट् दृश्यों की अपेक्षा बाग तथा उपवनों के छोटे चित्र ही विशेषतः सूझते हैं। बड़ी-बड़ी नदियों, समुद्र तथा आकाश के उत्तमोत्तम चित्र नहीं मिलते। रवींद्रनाथ द्वारा अंकित सौंदर्य का एक विराट् चित्र—

जेनो गो विवश होयेछे गोधूलि,
पूर्वे आँधार वेणी पड़े खुलि,
पश्चिमेते पड़े खसिया खसिया
सोनार आँचल तार।

(मानो गोधूलि विवश हो रही है, पूर्व ओर उसकी अंधकारवेणी खुली पड़ती है, और पश्चिम की तरफ खुल-खुलकर उसका सोने का आँचल गिर रहा है।)

छोटे रूप की क्षणिक प्रभा में स्थायी प्रभाव न मिलने के कारण रवींद्रनाथ कहते हैं—

"क्षुद्र रूप कोथा जाय बतासे उड़िया दुइ चारि पलकेर पर"

(छोटा रूप न-जाने कहाँ हवा में दो ही चार पल में उड़ जाता है।)

काव्य में साहित्य के हृदय को दिगंत-व्याप्त करने के लिये विराट् रूपों की प्रतिष्ठा करना अत्यंत आवश्यक है। अवश्य छोटे रूपों के प्रति यहाँ कोई द्वेष नहीं दिखलाया जा रहा। रूप की सार्थक लघुविराट् कल्पनाएं संसार के सुंदरतम रंगों से जिस तरह अंकित हों, उसी तरह रूप तथा भावनाओं का अरूप में सार्थक अवसान भी

आवश्यक है। कला की यही परिणति है और काव्य का सबसे अच्छा निष्कर्ष। इस तरह काव्य के भीतर से अपने जीवन के सुख-दुःखमय चित्रों को प्रदर्शित करते हुए परिसमाप्ति पूर्णता में होगी। जैसे—

कभी उड़ते पत्तों के साथ,
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से लघु हाथ
बुलाते हैं मुझको उस पार।

साहित्य का फूल अपने ही वृंत पर

कला निष्कलुष है। दुनिया में वह अपना सानी नहीं रखती। साहित्यकार के लिये उसके अपर अंगों के ज्ञान से पहले बोध आवश्यक है। जैसे बीजमंत्र, उसका अर्थ, पश्चात् अनिंद्यसुंदर रूप उसी के फूल की तरह उसके अर्थ के। डंठल पर खिला हुआ। नया जन्म जिस तरह, एक युग की संचित अनुभूतियाँ अपने भीतर से रूप और भाव पैदा करती हैं; यही युगांतर की कला है—साहित्य में रस और रूप के परिवर्तन का दिव्य स्रोत। सूक्ष्मतम विवेचन सनातन को जिस तरह नित्य स्थिति देता है, उसी तरह कला भी नित्य रहस्य में दाखिल है—अपरिवर्तनीय; पर नए कोंपल, नए फूल, नई शरत्, नई आँखें, नई शशि-स्निग्ध दृष्टि और नई रोशनी अपने समय के नकाब के भीतर से अचंचल देखती हुई लोगों की नज़र बाँध ही लेती हैं। इसीलिये नित्य-नवीन, चापल्य-तल्प, अप्रसंग काम्य, साहित्य की एक ही कल्पलता है। जिसे पुरानापन कहते हैं, वह जैसे एक युग तक एक खास तौर की कला पर नज़र फ़ेरते हुए अभ्यास के जंग की ही मलिनता है; फिर जैसे सुबह के सूरज की किरनों से निखरा, शबनम का धुला हुआ नया फूल अकल डाल पर उत्कीर्ण कला का एक नैसर्गिक चुंबन बन रहा हो। साहित्य की जमीन खिल उठती है।

कला का आकरण-भेद वैसा ही है, जैसा व्याकरण का; जल जड़ हुआ, जड़ जल; ऐसा ही दर्शन-शास्त्र में। महत्व सिर्फ सामयिक है। समय का प्रभाव ही एक खास जल को तीर्थ-जड़ और जंगम चेतन बना देता है, जैसे कैलास की अर्धेंदु-शिखरा कला गंगा को महत्व देती, कृष्ण की अखिल 'तत्वमसि' कला यमुना को, महाकालेश्वर

की पल-त्वरित पदताल क्षिप्रा को, अनसूयाजी की पयःस्राविनी तपस्या पयस्विनी को। कला उसी तरह समय के स्वर्ण-घट में प्राण प्राप्त कर पूजक साहित्यिकों की दिव्य दृष्टि बन जाती है, जिससे साहित्य का असामयिक जड़ पिघलकर जल बनकर बह चलता है।

जैसे संगीत में किसी एक रागिनी की प्रधानता नहीं, बंगाली, पूरबी, मुलतानी, ग़ज़ल, कनाडी, तिलंगी, बैरारी, लखनऊ की ठुमरी आदि ऐकदेशिक तथा मिली हुई रागनियों के सार्वभौम प्रचार के साथ-साथ छहो राग तथा रागनियाँ सर्वत्र गाई जाती हैं, और अब देश के प्राणों के साथ बिलकुल परिचित की तरह मिल गई हैं, वैसे ही कला के अपने सामयिक लिबास से पहलेपहल आने पर थोड़े ही से लोग वह रंग व रूप पहचान सकते हैं; क्योंकि अपने समय की वस्तु का आविष्कार, पूर्व-सूचन, परिचय और समर्थन आदि विज्ञानवेत्ता ही करते हैं। हर रागिनी की जान की तरह सामयिक साहित्यकला की भी एक जान है। जान रागिनी की सच्ची पहचान है, और साहित्य-कला की पहचान उसकी व्यापक महत्ता, एक असर जो दिल को खिलाता और हिलाता है, मौसम की तरह, एक खिज़ाँ, दूसरा बहार। दोनों में अलग-अलग स्वर बज रहे हैं।

हर देश की एक खुसूसियत कहलाती है, जो उसकी आबोहवा से मिली होती है। हिंदोस्तान की जितनी बातें प्राणों से मिली हुई आत्मा बन गई हैं, वे इस समय उसकी अपनी चीजें कहलाती हैं। अपनी स्कृति पर हम इसे ही पहले की संस्कृति और अब अभ्यास में बदली हुई परिणति कहते हैं; यह आत्मा होकर भी आत्मा नहीं, जीर्णता है, भले ही सनातन हो। हम नवीनता को ही यहाँ सनातन कहेंगे। आत्मा पुरानी नहीं होती, चोला पुराना होता है। इस तरह, पकड़ रखने की कोई चीज़, कोई संस्कृति नहीं हो सकती, और चोला पकड़ रखने पर भी पकड़ा नहीं रहता। आब और हवा पकड़े नहीं जा

सकते। इसलिए देश की आबोहवा या खुसूसियत कोई चीज़ नहीं हो सकती। स्वामी विवेकानंद जी इसीलिये हिंदोस्तानियों की कोई नस्ल नहीं निकालते—"शून्य भीत पर चित्र रंग बहु, तन बिन लिखा चितेरे"—यही यहाँ की नस्ल है।

आब और हवा हर वक्त नए हैं, यहां तक कि कूप-मंडूक को भी कुएं के अतल सोते से नया-ही-नया जल मिलता जाता है। हवा रोज़ ताजी चलती, आसमान हर वक्त नए रंग बदलता है। फिर भी लोग संस्कारों के अनुसार की हुई—सोची हुई बातें ही लिखते, चली हुई राहें ही चलते हैं। हम साधारण जन इसे ही अपने साहित्य की, जो कुछ लिए हुए हैं, उसकी रचना-कल्पनाएं किया करते हैं। यही हमारा सनातनधर्म है। इसी किए और सोचे हुए में डूबकर चमत्कृति को हम लोगों ने संस्कृति बना लिया है। पर जहां जैसे वस्त्रों के बारे में प्रतिलिपि है, चित्र हैं कि बौद्ध-काल तक यहां सिले हुए कपड़े नहीं बन सकते थे, यह मुसलमानों की दी हुई विभूति है, यद्यपि सूचि-व्यूह से सुई और नौ-विद्या से Navigation का होना साहित्य संभव है, अस्तु उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि कुर्ता, वास्कट, मिर्जई आदि की सुहावनी प्राचीनता इस देश की आबोहवा के लिये संभव होती हुई भी अब संभाव्यता को बहुत बुरी तरह जकड़े हुए है, जैसे श्री रामजी मिर्जई पहनकर दरबार में जाते रहे हों! कम-से-कम वैदिक साहित्य के ज्ञाता हमारे आर्य-समाजी भाई तो ऐसा ही कहेंगे।

हम दोनों प्रकार की कला को साहित्य में सन्निविष्ट करते हैं। जिस वृंत पर वह कृति की कलिका खिलती है, वह है भाषा। भाषा भी समयानुसार अपना रूप बदलती रहती है। कला के विकास के साथ-साथ साहित्य में नई भाषा भी विकसित होती है। हरा कैंड़ेदार मज़बूत डंटल ही कृशाँगी नवीन कला को चाहिए। कोमल और कठोर, आत्मा और प्राणों का ऐसा ही संबंध रहा है। ब्रज-भाषा पूर्ण

भाषा है,खड़ी बोली हिंदी के हृदय की अभ्रांत आशा, सार्वदेशिक प्रसार से लिपटी हुई, जड़ और चेतन के विश्व-संसर्ग से बंधन-हीन; चित्रा और विचित्रा। यह घर बड़े ही मर्मज्ञ कला ंत का है। वह ब्रज-साहित्य अपने भावना प्रसार को कर्मकांड तथा ज्ञानकाँड के भीतर से शेर के संकोच को झपट में देखना चाहता है। तमाम विश्व, नहीं,तमाम सौर मंडल को क्रिया तथा ज्ञान के भीतर डाल लेना चाहता है; महावीर विजयी सिकंदर एक नंगे ंन्यासी का शौर्य निर्भय तंत्र में प्रदर्शित करता है, इसीलिए यह कला दिग्वसना श्यामा सुंदरी है—ज्ञानांबुधि की अगणित-ऊर्मिमयी महासीमा। वह प्राचीन वसंत आज अनंत-किसलय-मृदुल पुष्पसंकुल स्निग्धवायु- ंपित मर्मर ध्वनि करता, अभ्यास जीर्णता उड़ाता हुआ पुनः प्रतिष्ठित होना चाहता है।

———

हिंदी-कविता-साहित्य की प्रगति

अज्ञात अनादि काल से लेकर आज तक समय के परिवर्तन के साथ ही साथ हमारे भाषा-साहित्य का भी परिवर्तन होता गया है। जैसे साहित्य भी सृष्टि की नश्वरता के नियमों में बँधा हो—"नवानि गृह्णाति" के अनुकूल चल रहा हो। जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कारण, युग-धर्म के रूप से, साहित्य में इस प्रकार के परिवर्तन करते आए हैं, इस लेख में, उन पर विचार न किया जायगा। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सुयोग्य सभापतियों द्वारा इस विषय पर बहुत कुछ विचार हो चुका है। कम-से-कम, संतोष करने के लिये, कुछ अपभ्रष्ट शब्दों की सूची तो तैयार हो ही चुकी है। समय के प्रवाह में जिन अनेक शब्दों को पड़ना पड़ा, लोक-रुचि से घिसा हुआ एक परिवर्तित स्वरूप धारण करना पड़ा, प्रसंगवश, हम उन्हें ही ग्रहण करते हैं, और कहना चाहते हैं कि इतने प्रवर्तन के होने पर भी उनकी आत्मा में विकार नहीं हो पाया—उन अपभ्रष्ट शब्दों में अधिकांश शब्द ऐसे हैं, जिनके अर्थ में किसी प्रकार की विकृति नहीं हुई। इस तरह, हम देखते हैं, वैदिक साहित्य की जो निर्मल आत्मा थी, अनादि काल से आते हुए प्रवर्तनों के प्रतिघातों से जाग्रत्, सुप्त और मूर्च्छित, हमारे भाषा-साहित्य के वर्तमान क्रम हिंदी में भी वही आत्मा मौजूद है। हम यहाँ उन शब्दों पर भी विचार नहीं करना चाहते, जिनकी आमदनी दूसरे भाषा-साहित्यों से हुई है। किंतु यहाँ इतना कह देना अप्रासंगिक न होगा कि सूक्ष्म विचार करने वाले वैदिक पंडितों के प्रमाण से दूसरे भाषा-साहित्य की सृष्टि और पुष्टि वैदिक शब्द-राशि के विकृत रूपों से ही हुई है। किस तरह इधर आर्य-भाषा में अनार्य भाव आए, इतिहास, विज्ञान, "हाँ-न"-वाली सृष्टि की विरोधी युक्तियाँ आदि

इसके प्रमाण हैं। हम इस उलझन में भी नहीं पड़ना चाहते। हम केवल देखेंगे कि भारतीयता क्या है - जो आज जातीयता के रूप में, एक विचित्र शिरश्चरण-विहीन छाया की तरह दृष्टिगोचर हो रही है—और हमारा वर्तमान कविता-साहित्य हमारी भारतीयता या हमारी वर्तमान जातीयता की ओर कहाँ तक अग्रसर है।

भारतीयता या जातीयता के प्रश्न पर विचार करने के समय जब ज्ञान-कांड और कर्म-कांड में विभाजित भारतवर्ष की अनुभूतियों और आचरणों की ओर हम देखते हैं, तो हमें विश्वास हो जाता है—विश्वास ही नहीं, हमें ंतोषप्रद प्रमाण भी मिल जाते हैं—कि हमारी ज्ञान-भूमि की व्याख्या है 'पूर्णता', यदि एक शब्द में कही जाय, और हमारे तमाम आचरणों का संबंध उसी पूर्णता के साथ रक्खा गया है। 'समाज' की सम्यक् गतिशील रहने वाली 'अज' धातु इसका प्रमाण है। यह गति पूर्णता की ओर ही की गई है। हम यह नहीं कहते कि आदिम सृष्टि-काल में अनार्यता थी ही नहीं, जड़ था ही नहीं; अनार्यता थी, असत् का आश्रय जरूर था, परंतु बहुत कम था। यह असत् उतना ही था, जितना छाया का ंश पेड़ के नीचे, और सत् उतना, जितना प्रकाश का अंश उसके ऊपर। बल्कि कहना चाहिए, सत् को सिद्ध करने के लिए ही हमारे जातीय शरीर में थोड़ा-सा असत् का अंश आया था। आज तक जितने आचरण बदले, कर्म-कांड में जो भेदातिभेद होते गए, वे ज्ञान-कांड की पुष्टि के लिए, ज्ञान-भूमि पर स्थापित होने के लिए ही हुए।

उदाहरणार्थ ब्रज-भाषा-साहित्य को लीजिए। कबीर उसके वेदांत साहित्य के रचयिता, ुलसी उसके ज्ञान-मिश्रित भक्ति-साहित्य के प्रणेता, सूर उसके अलौकिक प्रेम के दर्शक और अन्यान्य भक्त-कवि उसके दिव्य भावों को पुष्ट करने वाले, समाज के शिरोमणि, जाति के यथार्थ नेता होंगे। भूषण आदि ब्रज-भाषा के ओज उसकी

शिथिल शिराओं में जातीयता का प्रवाह ंचालित करने वाले होंगे। मतिराम, बिहारी, पद्माकर, देव आदि उसके गृह-शरीर की वासनाओं को रूप देने वाले, गृहस्थों के मनोविनोद की सृष्टि करने वाले होंगे। इस तरह ब्रज-भाषा की मूर्ति हमारे सामने आ जाती है—जातीय प्रगति का उज्ज्वल चित्र हमारे सामने आ जाता है। हम समझ लेते हैं, वेदांत की सर्वव्यापक चेतन भूमि में विचरण करना ही हमारी मुक्ति है, साहित्य में—

"सूर परकास तहँ रैन कहँ पाइए
रैन परकास नहिं सूर भासै ;
होय अज्ञान तह ज्ञान कहं पाइए
होय जहँ ज्ञान अज्ञान नासै।"
(कबीर)

"जानिय तबहिं जीव जग जागा ;
जब सब विषय-विलास विरागा।
होय विवेक मोह-भ्रम भागा ;
तब दृढ़ चरण-कमल अनुरागा।"
(तुलसी)

यही भाव हमारी जातीय मुक्ति के सूत्र, हमें लोकोत्तरानंद देने वाले, हमारी जाति की आत्मा, हमारी बुद्धि में सर्वोत्तम संस्कृत, हमें मनुष्य से देवता और देवता से ब्रह्म कर देने वाले हैं।

भारतवर्ष की किसी भी प्रांतीय भाषा को लीजिए, उसके संपूर्ण शरीर का ऐसा ही संगठन होगा! उसमें दिव्य भाव और मानव भावों की ही अधिकता होगी। आसुर भाव बहुत कम होंगे। और, उस भाषा का परिवर्तन भी आसुर भावों के बाद ही हुआ होगा, जैसे उस भाषा-शरीर को नष्ट करने के लिए ही आसुर भावों या इतर प्रवृत्तियों का दौर-दौरा साहित्य में हुआ हो।

जब हम अपने साहित्य के सुधार की चेष्टा करते हुए अपनी बनी-बनाई आँखों को रोग-ग्रस्त सोचते हैं, उन पर एक दूसरे देश के सुधार का चश्मा रख लेते हैं, उस समय हम भूलते हैं। वर्तमान शासन के 'प्रभाव' वा दोष भी हमारी शिक्षा के साथ सम्मिलित होकर हमें अपनी ओर खींचता है, हमें अपनी शक्ति से वशीभूत कर लेता है। हमारी आत्मा, हमारे अज्ञात भाव से, हमारी नहीं रहता, उनकी हो जाती है ; हम साहित्यिक पराधीनता स्वीकार कर लेते हैं।

भारतीय या जातीय, इन भावों को सामने रखकर हम देखेंगे, हमारी जातीय मुक्ति की ओर हमारा वर्तमान कविता-साहित्य कहाँ तक अग्रसर है।

चाहे जिन कारणों से हो, "भगवान् व्यास तुमको प्रणाम" की गहन श्रद्धा से, कविता में खड़ी बोली की गिटकरियाँ और तान-मूर्च्छनाएँ भरी जाने लगीं। उधर व्रज-भाषा के भक्तों ने संबद्ध होकर रण-घोषणा की। किसके चीत्कार में लालित्य मिलता है, इसकी जाँच चलने लगी। उस समय खड़ी बोली की कविता में प्राण न थे। वह दास्य-वृत्तिवाली ही थी। किसी-न-किसी महापुरुष के पैरों पड़ती रही। अपनी प्रार्थना से लोगों को अपनी ओर बढ़ाती रही। कुछ कवि अपने पूर्व-संस्कारों को जाग्रत् कर खड़ी बोली की शिला पर अपने पुराने ज़ंग-लगे महास्त्रों को घिसकर शानदार करने की चेष्टा में रहे। कुछ ने सीता-राम और कृष्ण भगवान् की पुरानी तान छेड़ी। साहित्य के उस काल की पूजा वैसी ही रही, जिसके बंध में कहा है—"अनख आलस हू, राम जपत मंगल दिसि दस हू।" महर्षि दयानंद की वैदिक प्रतिष्ठा के क़ायल, अपनी जाग्रत् प्रतिभा के ज्वर से जर्जर, निंदोक्तियों द्वारा समाज को प्रबुद्ध करने वाले कवि भी हुए, और सबसे अधिक खड़ी बोली को मधुर करने का श्रेय रहा राष्ट्र के उष्ट-मार्क कवियों को, जिनकी प्रतिभा के प्रखर प्रवाह से शब्दों के गले में "त्राहि माम्" करने की शक्ति भी न रही।

खड़ी बोली के प्रथम कवियों में आर्य-भावना पर सफलता पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय को हुई। इनकी 'आर्यबाला' शायद इनकी इधर की, १० वर्ष के अंदर की, रचना है; पर है अत्यंत सुंदर—

"कमला-लौं सब काल लोक-लालन-पालन-रत;
गिरि-नंदिनि-समान पूत पति-प्रेम-भार-नत।
गौरव-गरिमामयी ज्ञान-शालिनी गिरा-सम;
काम-कामिनी-तुल्य मृदुलतावती मनोरम।

× × ×

"वह है पति-मन-मधुप के लिए लतिका कुसुमित;
वह है सुंदर सरिस सरोजिनि सम्मति के हित।
वह है मन-मोहन-मुरलिका मधुर-मुखी, मृदु-नादिनी;
पुर-जन-परिजन-परिवार-जन-गोप-समूह-प्रसादिनी।

× × ×

"पा जिनका विज्ञान बनी अति पावन अवनी;
उन ऋषि गौतम-कपिल-व्यास की है वह जननी।

× × ×

"नर है पीवर, धीर, वीर, संयत, श्रमकारी;
है मृदुतन, उपराममयी, तरलित-उर नारी।
नर-जीवन है विपुल-कार्यमय प्रांतर न्यारा;
नाना-सेवा-निलय नारिता है सरि-धारा।
मस्तिष्क-मान-साहस-सदन वीर्यवान है पुरुष-दल;
हैं सहृदयता-ममतावती पयोमयी महिला-सकल।"

× × ×

उपाध्याय जी ही उस काल के एक ऐसे रत्न हैं, जिन्हें दिव्य भावना

की उपासना का श्रेय दिया जा सकता है। इनके चौपदों की सजीवता और भाषा के ऐश्वर्य से हिंदी को मौलिक बहुत कुछ मिला।

शंकरजी की कुछ वेदांत की कविताएं मैंने देखी हैं। अन्य भावों की भी अनेक कविताएँ मैंने देखी हैं। इनकी तरह वर्ण-वृत्तों और मात्रिक छंदों का कुशल कवि हिंदी में हुआ ही नहीं। मुझे इनकी वर्णन-शक्ति से छंदोधिकार जबरदस्त जान पड़ता है। हिंदी के एक प्रसिद्ध समालोचक ने इनके संबंध में कभी लिखा था कि इनके उग्र शब्द जैसे अपनी उग्रता सहन न कर सकते हों। "ढकेलू ढंग ढाँपने को" इस तरह शब्दों के गढ़ने की ओर इनकी रुचि तो मिलती है, परंतु सफलता के विचार से हमें कहना पड़ता है, इनके शब्द-संगठन में कवि के हृदय की रस-प्रियता का परिचय नहीं मिलता। इनके शब्द इन्हीं के साहित्य तक परिमित रहे। प्रतिभा में रस ग्राहिता कम रहने के कारण लोगों पर केवल प्रतिभा का प्रभाव ही पड़ा। वे इनके शब्दों के रूपों को अपना कर लेने का साहस नहीं कर सके।

खड़ी बोली का सांचा दुरुस्त हुआ बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त की कविताओं से। गुप्तजी की कविताओं में खड़ी बोली के मार्जन के साथ-ही-साथ सती भावना की एक निर्मल ज्योति भी मिलती है। कवि की भावुकता हृदय को बहुत कुछ शांति करने की शक्ति लेकर प्रकट हुई—

चुन ले चला हमारा साथी सुमन कहाँ तू?—
माली कठोर माली!
है छोड़ता यहाँ पर केवल कराल कंटक
यह रीति है निराली।
किसको सजायगा रे हमको उजाड़ कर यों,
यह तो हमें बता तू;

झंखाड़ छोड़ता है इस वन्य झाड़ पर क्यों,
इत देख यह लता तू ।
× × ×
"मृदु, मंद-मंद गति से शीतल समीर आकर
दल-द्वार खटखटाता ;
पर सन्न हो विरति से जाता न-उसे पाकर
निर्गंध लटपटाता ।"
× × ×
"वह फूल, जो मधुर फल उपमानुकूल लाता,
तू सोच देख मन में ;
भगवान के लिए क्या वह भोग में न आता,
वलि हो स्वयं भुवन में ।"
× × ×

गुप्त जी की इन पंक्तियों में सहृदयता का स्रोत उमड़ रहा है। कोई पंक्ति ऐसी नहीं, जिससे भावुकता न टपकती हो, और जिसे पढ़कर पाठक सुखानुभव न करें।

गुप्तजी के साथ के अनेक कवि हैं। परंतु उन सब में गुप्तजी की ही कविताओं में आकर्षण की शक्ति विशेष रूप से देख पड़ती है, एक सनेहीजी को छोड़कर। सहृदयता की मात्रा गुप्तजी की कविताओं से सनेहीजी की कविताओं में अधिक मिलती है। गुप्तजी संस्कृत के शुद्ध प्रयोगों के पक्ष में रहते हैं, सनेहीजी खिचड़ी-शैली के पक्ष में ; इतना ही इनमें अंतर मिलता है। सनेहीजी की कविताएँ खिचड़ी-शैली में होने के कारण स्वाभाविकता से विशेष संबंध रखकर चलती हैं। गुप्तजी की कविताएँ भाषा की एक नीति के आधार पर लिखी गई-सी जान पड़ती हैं, परंतु सनेहीजी की कृतियाँ नीति से रहित। अथवा

खिचड़ी-शैली ही उसकी भाषा की नीति-भूमि रही, यह कहना पड़ता है। हिंदी के, अपने समय के, ये दोनों ही कवि महान् हैं। इनसे हिंदी को बहुत कुछ मिला। सनेहीजी—

"उदासी घोर निसि में छा रही थी;
पवन भी काँपती थर्रा रही थी।
विकल थी जाह्नवी की वारि-धारा;
पटककर सिर गिराती थी कगारा।
घटा घनघोर नभ में घिर रही थी;
विलखती चंचलता भी फिर रही थी।
न थे वे बूँद, आँसू गिर रहे थे;
कलेजे बादलों के चिर रहे थे।
कहीं धक-धक चिताएँ जल रही थीं;
धुआँ मुँह से उगल बेकल रही थीं।
कहीं शव अधजला कोई पड़ा था;
निठुरता काल की दिखला रहा था।
खड़ी शैव्या वहीं पर रो रही थी;
फटी दो-टूक छाती हो रही थी।"

प्रकृति में दुःख का कितना सुंदर चित्र है! बादलों से आँसुओं का झरना, रात्रि की स्याही में उदासी, पवन की भीरुता, कंपन, जाह्नवी की जल-धारा में विकलता।

"जगत यह दुःख-सुखमय है अगर यह हम समझते हैं;
समझिए तो कि इनका भेद ही हम कम समझते हैं।
समझवाले इसे बस, एक मन का भ्रम समझते हैं;
बुरा क्या वे समझते हैं, बहुत उत्तम समझते हैं।"

× × ×

"वही सलिला सरस जिसमें हमारी सैर होती है;
महानिर्भय-हृदय बनके भरी नौका डुबोती है।"

× × ×

"मनस्वी वीर अपने चित्त पर अधिकार रखते हैं;
न दुख की भीति रखते हैं, न सुख का प्यार रखते हैं।
स्ववश निज इंद्रियाँ ही क्या, सकल संसार रखते हैं;
इसी से दीन का उपकार, निज उद्धार रखते हैं।"

सनेहीजी की रचनाओं में पाठक देखें, किस खूबी से रसों और भावों का स्फुरण हुआ है।

पंडित रामचरितजी उपाध्याय की भी कोई-कोई रचना सजीव हो गई है। इधर कुछ दिनों से राजनीति और साहित्य के मिश्रण पर लिखते रहने के कारण अब यह कवियों की पंक्ति से उठकर उपदेशकों के स्वर में स्वर मिला रहे हैं। कवि की सहृदयता पर डिपुटी उपटसिंह का प्रभाव पड़ा है। इनकी—

"लड़ नहीं सकता मुझसे कभी,
तनिक भी नृप-बालक स्वप्न में;
कब, कहाँ, कह तो, किसने लखा,
कपि, लवा-रण वारण से भला?"

इस तरह की ललित रचनाएँ बहुत थोड़ी हैं। परंतु हिंदी के कविता-साहित्य में इन्होंने भी अपना एक सरल, निराला ढंग रक्खा और उसकी श्री-वृद्धि की।

पंडित रामनरेशजी त्रिपाठी, पंडित रूपनारायणजी पांडेय, श्रीयुत गोपालशरणजीसिंह, पंडित लोचनप्रसादजी पांडेय आदि कवियों की कोई-कोई रचनाएँ उच्च कोटि की, हिंदी की स्थायी संपत्ति, नारिकेल के फल की तरह अंतःसलिल-सिक्त और मधुर हुई हैं। विस्तार-भय से

उनके उदाहरण नहीं दिए जा सके। यहाँ तक हिंदी के कवियों का यह जो प्रवाह रहा, इसमें दिव्य भावों के दीपक तो अनेक छोड़े गए, परंतु वे जलते हुए जाति के जीवन-समुद्र तक नहीं जा सके घृत का अभाव था। कवियों की आत्माएं प्रभात के शिशिर-स्नात फूलों की तरह प्रसन्न होकर खिल नहीं सकतीं—भाषा की नवीन तंत्रियों में झंकृत कोई जागृति की प्रभाती नहीं सुनाई पड़ी। अभाव की वेदना से पीड़ित करुणा की क्षीण रागिनी उठकर संध्या के अंध वातावरण में विलीन होती रही। कुछ लोगों ने अपने गौरव के गीत भी गाए; परंतु उस समय के प्राकृतिक अभाव को वे दबा नहीं सके, उनके स्वर से ऐश्वर्य की उज्ज्वल किरणों ने स्वर नहीं मिलाया। लोगों की दिव्य भावनाओं को उनकी कविताओं से एक प्रकार से प्रोत्साहन-मात्र मिला। उस ऐश्वर्य की ध्वनि में "क्या खाया?" प्रश्न के "चने की रोटियाँ और बैंगन का खुश्क कबाब"-जैसे उत्तर की तरह, स्पर्द्धा और कर्कशता ही रही, प्राणों की प्रसन्न पूर्णता नहीं। पंडित रामनरेशजी त्रिपाठी ने खड़ी बोली की कविता का जो दूसरा युग स्वीकार किया है, यह वही है। इसमें सहृदयता कम और शक्ति का विकास अधिक मिलता है। गरियार बैल से हल चलवाने की चेष्टा की तरह ही खड़ी बोली के शब्दों से कविता की जमीन पर संसरण का गुरु कार्य कराया गया है।

शब्दों के अपभ्रष्ट रूपों में भी जिस तरह उनकी आत्मा की प्रथम ज्योति मिलती है, जिस तरह वैदिक संस्कृत से अवतीर्ण, भारतवर्ष की दूसरी भाषाएं, वैदिक और संस्कृत की मुक्ति की तरह, अपने कर्म-कांड द्वारा अपनी ज्ञान-राशि का प्रकाश विकीर्ण करती हुई, अबाध मुक्ति की ओर अग्रसर होती गई हैं, और तब तक अभीप्सित विराम के आसन पर रहीं, जब तक उनके साहित्य-शरीर को जीर्णता ने ग्रस्त नहीं कर लिया, उसी तरह खड़ी बोली की प्रगति भी उसी मुक्ति की

ओर होती जा रही है। यह मुक्ति इसे दिव्य भावना के बल से प्राप्त होगी। भारतवर्ष का जल-वायु इसी के अनुकूल है। जड़ परमाणुओं के आघात-प्रतिघातों से, कविता में जड़त्व के प्रचार से, न भाषा की मुक्ति होगी, न उससे सबद्ध इस जाति की ही मुक्ति हो सकती है। यदि देश का अर्थ मिट्टी है, यदि विश्व के माने मिट्टी का एक बृहत् पिंड है, यदि देश के उद्धार से मिट्टी के आधार का अर्थ सिद्ध होता है, यदि विश्व-मैत्री का सिद्धाँत जड़-शरीर से प्रेम करने की शिक्षा है, और यदि आजकल के कवि इन्हीं भावनाओं की पुष्टि करेंगे, तो निस्संदेह इससे भाषा के साथ भाषा के बोलनेवालों की मुक्ति असंभव होगी। इस जाति के प्राण जड़ से नहीं, चेतन से मिले हुए हैं। यहाँ का कोई सुधार योरप की तरह प्रतिघात के बल से नहीं हुआ। कहा जा चुका है—यहाँ का कर्म-कांड दिव्य भावों से संबंध रखनेवाला, चेतन की ओर ले चलनेवाला रहा है और इस समय भी है, चाहे कोई कविता लिखने का कर्म करे या संपादन का या कुछ और। राजनीति की दृष्टि से हमारा यह पतन हमीं से हुआ हमारे इतर कर्मों के कारण, हमारी दिव्य भावना के अभाव से, हमारे जड़ाश्रय दुर्गुणों के प्रभाव से। हमीं ने कमजोर होकर अपने शासन के लिये दूसरों को आमंत्रित किया, और तब तक दूसरे हमारे शासक रहेंगे, जब तक इस अपनी जातीय प्रतिष्ठा, जातीय मुक्ति, दिव्य भावना के अनेकानेक महास्त्रों से, प्राप्त न कर सकेंगे।

जिस तरह बाह्य भूमि में इस प्रकार के शासक और शासित रहते हैं, उसी तरह साहित्य की भूमि में भी रहते हैं। कारण, साहित्य किसी जाति का ही साहित्य हुआ करता है और यदि वह किसी दुर्बल जाति का हुआ, तो दूसरी सब जाति का उस पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक हो जाता है। हमारी पराधीन हिंदी पर पराधीनता के ही कारण फारसी का प्रभाव पड़ा, अंग्रेजी का पड़ रहा है, और आश्चर्य है, उसकी

प्रांतीय सहेलियाँ, बंगला-मराठी आदि, भी उस पर रोब गाँठ रही हैं। ब्रजभाषा हिंदी के समय फ़ारसी को छोड़कर दूसरी किसी प्रांतीय भाषा को उस पर प्रभाव छोड़ने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ; बल्कि बंगला-जैसी प्रांतीय भाषाओं पर उसी का प्रभाव पड़ा है। दूसरी भाषाओं से रत्नों को अवश्य ग्रहण करना चाहिए; परंतु प्रभावित होकर नहीं—प्रीत होकर।

हिंदी के उस युग की सृष्टि में, कहा जा चुका है, सहृदयता की मात्रा बहुत अधिक न थी। "भाषा की प्रथम अवस्था में जितना हुआ, बहुत हुआ" के विचार से संतोष करने के लिए यह बहुत है ❁।

❁ श्रीयुत बाबू जयशंकरजी "प्रसाद", पंडित माखनलालजी चतुर्वेदी, पंडित मुकुटधरजी पांडेय, पंडित बालकृष्णजी शर्मा "नवीन", पंडित सुमित्रानंदजी पंत आदि जिन कवियों की छायावादी कवियों के नाम से प्रसिद्ध हो रही है, इनकी रचनाओं ने हिंदी को क्या दिया, इस पर किसी दूसरे प्रबंध में विचार करूँगा।—लेखक

हमारी लाइब्रेरी-योजना
गाँव-गाँव और शहर-शहर में

१,००,००० घरेलू और सार्वजनिक लाइब्रेरियाँ खुलवाइए !

अन्न-दान से परे कोई दान नहीं, किंतु विद्या-दान उससे भी श्रेष्ठ है। कारण, अन्न से आप आदमी की शारीरिक भूख ही शांत करते हैं, किंतु विद्या से उसकी शारीरिक मानसिक और आत्मिक भूख शांत करते हैं—उसका लोक-परलोक बनाते हैं। शारीरिक भी इसलिये कहा कि पढ़ाकर आप उसे काफी शारीरिक भोजन कमाने लायक बनाते हैं। इसलिये शास्त्रों में विद्या-दान को ही सर्वश्रेष्ठ दान बतलाया गया है।

विद्या-दान के मुख्य केन्द्र स्कूल, कालिज, गुरुकुल और विश्व-विद्यालय ही हो रहे हैं। किंतु विद्या-दान का इससे कहीं सुसंस्कृत और सुंदर स्वरूप लाइब्रेरी-स्थापन है। कारण, स्कूल-कालिज में किसी बालक या बालिका को पढ़ाकर आप जहाँ उसी एक को लाभ पहुँचाते हैं, वहाँ लाईब्रेरी खोलकर अपने को, अपने घरवालों को, पड़ोसियों को और जो लाभ उठाना चाहें, उन्हें लाभ पहुँचाते हैं। लाईब्रेरियों में सबों के लिए उपयोगी किताबें रह सकती हैं, इसलिये बालक, युवक, वृद्ध, स्त्री-पुरुष, सभी समान रूप से उनसे लाभ उठा सकते हैं।

भारत-भर में २०० से ज्यादा हिंदी भाषा-भाषी जिले तथा लगभग २,०००, ००० गाँव अवश्य हैं—हिंदी बोलने वाले २० करोड़ मनुष्य जरूर हैं। क्या इनमें से १ लाख भी हिंदी पढ़े-लिखे ऐसे मनुष्य नहीं मिल सकते, जो ६००) सालाना या ५०) मासिक से ज्यादा आमदनी रखते हों, और वर्ष में ६) या महीने में ।।) अर्थात् एक पैसा रोज हिंदी-हित के लिए खर्च कर सकें? हमारी राय में अवश्य मिल सकते हैं, और मिलेंगे। आवश्यकता है, "हिंदी पढ़ें",

आगे बढ़ें" का भाव हिन्दी-भाषा-भाषी भाई बहनों में जगाने की। बँगला, गुजराती, मराठी भाषी पढ़े लिखे भाई बहन शायद ही कोई ऐसे हों, जिनके यहाँ अपनी मातृभाषा के ग्रंथ न हों। तभी तो ये सब साहित्य तेज़ी से तरक्की कर गए हैं। क्या हमें पीछे रहना चाहिए ? कदापि नहीं। तो फिर क्या आप अपने घर में घरेलू पुस्तकालय खोलेंगे ? अवश्य एक छोटी, पर अच्छी पुस्तकोंवाली लाइब्रेरी खोलिए। पुस्तकों का चुनाव सावधानी से कीजिए। हम इसमें आपकी पूरी मदद करेंगे। हमारे यहाँ अपनी पुस्तकों के अलावा हिन्दुस्थान-भर की पुस्तकें रहती हैं। प्रत्येक नगर में दूकानें हम खुलवा रहे हैं, और १० कन्वेसर तथा ५०० एजेंट हमारे भारतवर्ष-भर में फैले हुए हैं। आप नियम मँगाकर, विशेष वितरक बनकर २००) से ४००) मासिक कमा सकते हैं।

कहना न होगा, इस स्कीम से २० वर्ष में १-२ हजार सुंदर ग्रंथ निकल जायँगे, और कई सौ लेखक भी तैयार हो जायँगे। साथ ही लेखक जिस प्रकार इस समय भूखों मर रहे हैं, उनकी वैसी अवस्था न रहेगी। सारा देश भी उन्नत और समृद्धिशाली हो जायगा। यह सब पुण्य आप लूटेंगे। इसलिये हमसे मँगाकर फ़ौरन् प्रतिज्ञा-पत्र भरकर भेजिए और अपने मित्रों तथा संबंधियों से भिजवाइए।

समर्थ सज्जन अपने किसी प्रिय-जन के नाम से सार्वजनिक लाइब्रेरी खुलवाएँ।

स्थायी ग्राहकों से निवेदन

हर्ष की बात है, हमारे कृपालु स्थायी ग्राहकों ने हमारी लाइब्रेरी-योजना के क्षेत्र-विस्तार में अपूर्व सहयोग दिया है। हम उनके आभारी हैं। अब तक कोई २५,००० घरेलू पुस्तकालय उक्त योजना के अंतर्गत हम खुलवा चुके हैं। १,००,००० लाइब्रेरियाँ खुलवाने की हमारी योजना है। अतएव यदि हमारे कृपालु स्थायी ग्राहक अपने २-२ या ३-३ इष्टमित्रों को और ग्राहक बनवा दें, तो हमारा यह प्रयास पूर्णतया

सफल हो जाय। आशा है, आप हिंदी-सेवा के इस पुनीत कार्य में हमारा हाथ बँटाकर सहयोग देंगे।

दुलारेलाल
(सर्व-प्रथम देव-पुरस्कार-विजेता)
सावित्री दुलारेलाल एम० ए०
(सभानेत्री अखिल भारतीय लेखक-संघ)

हमारा प्रकाशन-प्रोग्राम

सभी विषयों की पुस्तकें छपेंगी

ज्ञान ही सभ्यता का मुख्य आधार है। ज्ञान-राशि का संचय करना मनुष्य मात्र के लिये परमावश्यक है। अब समय दूसरा आ गया है। सभी विषयों की ओर ध्यान देना पड़ेगा। वेदों, पुराणों आदि के संशोधित और प्रमाणित संस्करण कहीं से भी प्रकाशित नहीं हो सके। संसार का साहित्य उपयोगी ग्रंथ रत्नों से भरा पड़ा है। उनको हिंदी में लाने का अभी तक कोई संगठित उद्योग नही किया गया। बच्चों के लिये जिन पाठ्य पुस्तकों का निर्माण हुआ, उन में भी अभी सुधार की गुंजायश है। इसी प्रकार अन्य विषयों में भी ऐसी ही अपूर्णता दिखाई देगी। किसानों के लिये उपयोगी पुस्तकों की ओर किसी श्रेष्ठ प्रकाशक ने ध्यान ही नहीं दिया। भारत कृषि-प्रधान देश है, यहाँ की उन्नति अवनति कृषि और कृषकों पर ही अवलंबित है, किंतु अभी तक बहुत थोड़े-से ग्रंथ लिखे गए हैं, और जो लिखे भी गए हैं, उनमें वैज्ञानिक और विशद विवेचन नहीं हुआ।

इन सब अभावों की पूर्ति के लिये हम विराट आयोजन कर रहें हैं। इसके अनुसार कार्यारंभ हो भी गया है। अब प्रति वर्ष—

(१) गंगा-पुस्तकमाला ꕥ
(२) महिला-माला
(३) बालविनोद-वाटिका
(४) सुकवि-माधुरी-माला ×
(५) धार्मिक ग्रंथमाला
(६) संस्कृत-साहित्य-सरोवर
(७) संसार-साहित्य-सागर
(८) किसान कुसुमावली
(९) प्रकीर्णांक पुस्तकावली ÷
(१०) पाठ्य पुस्तक -माला +
(११) गुजराती – ग्रंथमाला
(१२) मराठी – ग्रंथमाला
(१३) बंगाली – ग्रंथमाला
(१४) नेपाली - ग्रंथमाला
(१५) जान - ग्रंथ माला

इन १५ मालाओं में विविध विषयों पर हम सिद्ध-हस्त लेखकों द्वारा सुंदर पुस्तकें लिखवाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार एक वर्ष में ६,००,०००) की पुस्तकें प्रकाशित होंगी। पुस्तक का पूरा सेट ६००) तक का होगा। भिन्न-भिन्न विषयों पर ग्रंथ लिखे और प्रकाशित किए जा रहें हैं। धार्मिक ग्रंथ-माला में रामायण का सुंदर संस्करण प्रकाशित हो रहा है, इसके दो खंड प्रकाशित भी हो गए। गीता और पुराणों के भी सुंदर, संशोधित तथा आकर्षक संस्करण प्रकाशित करने की आयोजना हो चुकी है। किंतु इन सबकी सफलता ग्राहकों पर ही निर्भर है। कृपया प्रतिज्ञा-पत्र भरकर भेजिए। १ लाख प्रतिज्ञा पत्र भर जाने पर आप देखेंगे, हिंदी-साहित्य कितना उन्नत हो जाता है, और भारत राम-राज्य के कितने निकट आ जाता है !

———

ꕥ सर्व श्रेष्ठ हिंदी लेखकों की उत्कृष्ट पुस्तकें इसमें निकलती हैं।
× हिंदी के प्राचीन सुकवियों के ग्रंथ इसमें निकलते हैं।
÷ फुटकर ग्रंथ इसमें निकलते हैं।
+ सब प्राँतों की कोर्स की किताबें इसमें निकलेंगी।